

प्राकृत भाषा विमर्श

प्रोफेसर फूलचन्द जैन प्रेमी

- प्रकाशक -

भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ़ इण्डोलॉजी
दिल्ली

प्राकृत भाषा विमर्श

प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

निदेशक,

बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी
दिल्ली

- प्रकाशक -

भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी
दिल्ली

Prakrit Bhasha Vimarsh :

A short introduction to Prakrit language and literature

by Prof. Phool Chand Jain Premi

प्रकाशक :

निदेशक, भोगीलाल लहेरचन्द प्राच्य विद्या संस्थान,
विजय वल्लभ स्मारक जैन मन्दिर परिसर,
जी.टी. करनाल रोड, पोस्ट - अलीपुर, दिल्ली ११००३६

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

(मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के

संस्वीकृति-पत्र संख्या ५-६९/२०१२ कें. अनु. ए. दिनांक २३/९/२०१३
के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित

प्रथम संस्करण : २०१३

© प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

मूल्य : ४५.०० रु.

मुद्रक :

गणेश प्रिन्टिंग प्रेस

कटवारिया सराय, नई दिल्ली ११००१६

॥ पुरोवाक् ॥

‘प्राकृत भाषा विमर्श’ इस संस्थान के निदेशक (शैक्षिक) प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी द्वारा तैयार की गयी प्राकृत भाषा और इसके वैशिष्ट्य से परिचित कराने वाली एक अच्छी पुस्तक है। यह पुस्तक उन जिज्ञासुओं के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है जो बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी द्वारा नियमित रूप से पिछले २५ वर्षों से सफलतापूर्वक संचालित प्राकृत भाषा और साहित्य की ग्रीष्मकालीन कार्यशालाओं में प्राकृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन करने आते हैं तथा जिन्हें प्राकृत भाषा के विषय में जिज्ञासा है।

सभी प्रकार की प्राकृत भाषाओं और इनके साहित्य तथा एतद्-विषयक विविध जानकारियों से सम्बन्धित सरल भाषा और संक्षेप में लिखित इस प्रकार की पुस्तक की काफी समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। जिसकी पूर्ति इस पुस्तक के माध्यम से प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी ने की है। इससे प्राकृत भाषा को जानने-समझने के जिज्ञासुओं एवं इससे लगाव रखने वाले सुधी पाठकों को काफी लाभ तो होगा ही, साथ ही प्राकृत भाषा के अवदान और इसकी समृद्धि से परिचित होने का अवसर भी प्राप्त होगा।

प्रायः सभी भारतीय भाषाओं और इनके विशाल वाङ्मय को भाषिक, बौद्धिक और साहित्यिक रूप में प्रभावित करने वाली यह अति समृद्ध और जीवन्त प्राचीन भाषा कैसे उपेक्षित रह गयी, इस सम्बन्ध में चिन्तन के साथ ही इसके अधिकाधिक विकास एवं प्रसार-प्रचार की बहुत आवश्यकता है।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु अनुदान देकर एक अनुकरणीय कार्य किया है क्योंकि हिन्दी के विकास में मूलतः प्राकृत भाषा का सर्वाधिक योगदान स्पष्ट है।

प्राकृत भाषा के वैशिष्ट्य को उजागर करने वाली इस पुस्तक को तैयार करने में संस्थान की ओर से हम प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं एवं यथोचित मार्गदर्शन हेतु सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं निदेशक प्रो. गयाचरण त्रिपाठी जी के भी आभारी हैं। हमें आशा है कि प्राकृत प्रेमी जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अतीव लाभप्रद सिद्ध होगी।

— डॉ. जितेन्द्र बी. शाह,

उपाध्यक्ष, बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली
एवं निदेशक एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद

॥ प्राक्कथन ॥

समस्त उत्तर-भारतीय भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन में प्राकृत भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अनेक धुरन्धर वैयाकरणों एवं सरस साहित्यकारों ने भी प्राकृत के भाषागत महत्त्व एवं उसकी मधुरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। डेढ़ हजार वर्षों के लम्बे अन्तराल में प्राकृत जन-सामान्य की स्वाभाविक भाषा रह चुका है। संस्कृत का परिज्ञान जहाँ परिश्रमसाध्य था, 'गुरुकुल क्लिष्टता' के बिन अप्राप्य था, वहीं प्राकृत भाषा बच्चों को शैशवावस्था में ही माता की गोद में खेलते-कूदते प्राप्त हो जाती थी। भरत जैसे महान् नाट्यशास्त्रकृत् और कालिदास-भवभूति जैसे संस्कृत के महाकवि भी प्राकृत को उपेक्षित नहीं कर पाये। भरत ने नाटकों में सामान्यजन, स्त्रीपात्र एवं बालकों के लिये स्थानीय प्राकृत का प्रयोग अनिवार्य बताया, तो संस्कृत के नाटककारों ने खुलकर और उदारता के साथ उसका प्रयोग किया। संस्कृत के अनेक उत्कृष्ट कवियों ने प्राकृत भाषा में महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों की एवं समग्र प्राकृत नाटकों (सट्टकों) की रचना की। संस्कृत काव्यशास्त्रियों को भी सरल और मधुर व्यंग्य रचनाओं के उदाहरण खोजते समय मुख्यतः प्राकृत काव्यसंग्रहों का ही सहारा लेना पड़ा।

भाषाशास्त्रियों के लिए प्राकृत का ज्ञान अनिवार्य है, उसके बिना उन्नत भारतीय भाषाओं का न तो व्याकरण लिखा जा सकता है, और न ही शब्दों और उनकी ध्वनियों के विकासक्रम को समझा जा सकता है। प्राचीन भारतीय इतिहास का विद्यार्थी प्राकृत में उत्कीर्ण सैकड़ों शिलालेखों के ज्ञान के बिना अधूरा है और प्राकृत के ज्ञान के बिना जैनदर्शन एवं धर्म के अध्ययन की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि भोगीलाल लहेरचंद भारतीय विद्या संस्थान के यशस्वी निदेशक प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी ने प्राकृत भाषा के स्वरूप एवं उसके महत्त्व पर अत्यन्त मनोयोग एवं परिश्रमपूर्वक प्राकृत की यह सारगर्भित, परिचयात्मक पुस्तिका तैयार की है। प्रो० जैन ने प्राकृत एवं संस्कृत

के उत्कृष्टतम परम्परागत विद्यालयों में सुप्रसिद्ध गुरुओं से प्राकृत एवं जैन दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है। जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) जैसे सुप्रतिष्ठित संस्थान से प्राकृत एवं जैन विद्या का अध्यापन कार्य प्रारंभ करके वे सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में अनेक दशकों तक जैन तत्त्वदर्शन के आचार्य एवं विभागाध्यक्ष रहे हैं। विषय के तो वे अधिकारी विद्वान् हैं ही। अतः यह पुस्तक अतीव प्रामाणिक बन पड़ी है। प्रस्तुत पुस्तक न केवल नव शिशिक्षुओं के लिये अपितु विद्वानों के लिये भी अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक की रचना मुख्य रूप से संस्थान के रजत जयन्ती वर्ष के शुभ अवसर पर हमारे उन प्रतिभागियों के हित के लिये हुई है जो यहाँ प्रतिवर्ष आयोजित प्राकृत भाषा एवं साहित्य की ग्रीष्मकालीन अध्ययनशाला में भाग लेने आते हैं। पिछले २५ वर्षों से यह अध्ययनशाला अनवरत रूप से आयोजित होती चली आ रही है। सन् २०१३ का यह वर्ष इस अध्ययनशाला का रजत जयन्ती वर्ष है, जिसका आयोजन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन-मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली एवं भोगीलाल लहेरचंद प्राच्य भारतीय विद्या संस्थान दिल्ली के संयुक्त तत्त्वावधान में हुआ।

इस अवसर पर प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी की इस पुस्तक को प्रस्तुत करते हुये हमें परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तिका प्राकृत भाषा एवं साहित्य के प्रति लोगों की अभिरुचि एवं उनका ज्ञान बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगी।

बी० एल० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी,
बुद्धपूर्णिमा, २५-०५-२०१३

प्रो० गयाचरण त्रिपाठी
शैक्षणिक निदेशक

भूमिका

प्राचीन भारतीय भाषाओं में प्राकृत भाषा अनेक शताब्दियों तक भारतीय जनमानस की प्रमुख जनभाषा रही है। सम्पूर्ण भारतीय भाषायेँ इनका साहित्य, इतिहास, संस्कृति, परम्परायेँ, लोक-जीवन और जन-मन-गण इससे प्रभावित एवं ओत-प्रोत है। यही कारण है कि प्राकृत भाषा को अनेक भारतीय भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। साहित्य सर्जना के रूप में सर्वाधिक प्राचीन वैदिक भाषा में भी प्राकृत भाषा के अनेक तत्त्व प्राप्त होते हैं। इससे लगता है कि उस समय भी बोलचाल की लोक-भाषा के रूप में प्राकृत जैसी कोई जन-भाषा निश्चित ही प्रचलन में रही होगी। इसी जन-भाषा को अपने उपदेशों और धर्म प्रचार का माध्यम बनाकर तीर्थंकर महावीर और भगवान बुद्ध भाषायी क्रान्ति के पुरोधा कहलाये।

यही कारण है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक प्राकृत भाषा में धर्म-दर्शन, तत्त्वज्ञान, अलंकार-शास्त्र, सामाजिक विज्ञान, इतिहास-कला-संस्कृति, गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, वास्तुशास्त्र, मूर्तिकला एवं जीवन मूल्यों आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों के अतिरिक्त आगम एवं इनकी व्याख्या से सम्बन्धित साहित्य की सर्जना समृद्ध रूप में होती आ रही है और यह क्रम आज भी प्रवर्तमान है।

किन्तु आश्चर्य है कि जो प्राकृत भाषा स्वयं अनेक वर्तमान भाषाओं की जननी है और लम्बे काल तक जनभाषा के रूप में राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही, तथा जिसका विशाल वाङ्मय विद्यमान है, राष्ट्र की वह बहुमूल्य धरोहर प्राकृत भाषा आज इतनी उपेक्षित क्यों है कि इसे आज अपनी अस्मिता एवं पहचान बनाने और मूलधारा से जुड़ने हेतु संघर्ष करना पड़ रहा है ? इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु एक विनम्र किन्तु प्रशस्त प्रयास प्राकृत भाषा एवं साहित्य की ग्रीष्मकालीन अध्ययनशालाओं के माध्यम से पिछले पच्चीस वर्षों से निरन्तर दिल्ली के विजय वल्लभ स्मारक जैन मंदिर के विशाल परिसर में स्थित भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी कर रहा है।

संस्थान में समय-समय पर विविध विशिष्ट शैक्षणिक कार्यक्रमों का आयोजन होता ही रहता है। इसमें आमंत्रित विशिष्ट अतिथियों को प्राकृत के

प्रारम्भिक परिचय हेतु तथा प्राचीन भारतीय भाषाओं और इनके इतिहास में अभिरुचि रखने वाले जिज्ञासु विद्वानों, छात्रों आदि की आवश्यकताओं को विशेष ध्यान में रखते हुये यह पुस्तक तैयार की गई है, जिसमें इस विषयक सामान्यज्ञान हेतु प्राकृत भाषाओं का परिचय एवं विशेषताएँ, इतिहास, उपलब्ध साहित्य सहित विविध विषयों को सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि इसमें जो भी कमियाँ दिखें, उनसे मुझे अवगत कराने का अवश्य कष्ट करूँगे, जिससे आगामी संस्करण में उनका संशोधन-संवर्धन किया जा सके। इसे तैयार करने में मुझे जिनका विशेष मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है वे हैं – भारतीय प्राच्य विद्याओं तथा भाषाओं के सुविख्यात विद्वान् प्रो. गयाचरण त्रिपाठी जी। इस पुस्तक पर संस्थान के यशस्वी उपाध्यक्ष बंधुवर डॉ. जितेन्द्र बी. शाह जी के उत्साहवर्धक पुरोवाक् लिखने हेतु हम विशेष आभारी हैं।

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली से इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु सौजन्य प्राप्त हुआ, इसके लिए निदेशालय सहित यहाँ के उपनिदेशक (भाषा) श्री आर. एस. मीणा, डॉ. वेदप्रकाश एवं डॉ. दीपक पाण्डेय – इन सबके विशेष आभारी हैं।

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के यशस्वी कुलपति प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी तथा हमारे संस्थान के सम्मानीय चेयरमेन श्री निर्मल भोगीलाल मुम्बई, अध्यक्ष श्री राजकुमार जी जैन, उपाध्यक्ष डॉ. धनेश जी जैन एवं श्री जे. पी. जैन जी अपने परिवारजनों धर्मपत्नी डॉ. मुन्नी पुष्पा जैन एवं ज्येष्ठ सुपुत्र डॉ. अनेकान्त कुमार जैन सहित सभी के सौजन्य के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इस पुस्तक के टंकण कार्य में अथक श्रम करने वाले हमारे संस्थान के कम्प्यूटर प्रकोष्ठ के प्रभारी श्री लक्ष्मी कान्त के प्रति हम अपनी हार्दिक शुभांशा व्यक्त करते हुये प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

अक्षय तृतीया

१३ मई, २०१३

— प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

निदेशक,

बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली

प्राकृत भाषा विमर्श

विषय-सूची

१.	पृष्ठभूमि	१
२.	प्राकृत भाषा क्या है ? अर्थ एवं महत्त्व	२
३.	प्राकृत का लोकभाषा/जनभाषा-स्वरूप	४
४.	प्राकृत भाषा का माधुर्य	६
५.	प्राकृत की सार्वभौमिकता एवं विविध विषयों का प्रतिपादन	९
६.	प्राकृत भाषा के मूल दो भेद	१०
७.	प्रथम स्तरीय प्राकृत	१०
८.	द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा – १. प्रथम युगीन, २. मध्य युगीन प्राकृतें, ३. उत्तर अर्वाचीन युग का अपभ्रंश युग	१०
९.	प्राकृत शिलालेखों में जनभाषा का स्वरूप निदर्शन	११
१०.	वैदिक (छान्दस) भाषा और प्राकृत	१२
११.	छान्दस से प्राकृत भाषा का विकास	१५
१२.	छान्दस भाषा में प्राकृत भाषा के तत्त्व	१७
१३.	प्राकृत को सम्मान प्रदान करने वाले महापुरुष एवं कवि	१९
१४.	वर्तमान भाषाओं / लोक-भाषाओं का मूल-उद्गम	२२
१५.	संस्कृत और प्राकृत भाषा	२४
१६.	संस्कृत का विकृत रूप नहीं है, जनभाषा प्राकृत	२५
१७.	प्राकृत की उत्पत्ति सम्बन्धी भ्रम निवारण	२६
१८.	साहित्यिक प्राकृतों का आदर्श स्तर	२९
१९.	महाभाषायें और विभाषायें	३१

२०.	प्राकृत गीतों की प्रयोग विधा है – विभाषायें	३२
२१.	प्राकृत भाषाओं के भेद-प्रभेद	३३
२२.	मार्कण्डेय के अनुसार भाषाओं के भेद-प्रभेद	३४
२३.	रुद्रट और दण्डी के अनुसार भाषाओं के भेद	३४
२४.	आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत भाषा के भेद	३५
२५.	अन्य प्राकृत भाषायें – प्रथमयुगीन प्राकृत भाषायें	३५
	१. आर्ष प्राकृत	३५
	२. शिलालेखी प्राकृत –	३५
	शिलालेखी प्राकृत का उदाहरण – खारवेल के हाथीगुम्फा	३६
	मूल लेख का आरम्भिक अंश	
	३. निया प्राकृत	३८
	४. धम्मपद की प्राकृत एवं इसकी गाथाओं के उदाहरण	३८
२६.	अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत	३९
२७.	संस्कृत नाटकों में प्राकृत	३९
	क) नाटकों में प्राकृतों के प्रयोग का शास्त्रीय विधान	४०
	ख) पात्रानुसार विभिन्न प्राकृत-भाषाओं के प्रयोग का विधान	४०
	ग) मृच्छकटिकम् में प्राकृतों का प्रयोग वैशिष्ट्य	४२
	घ) नाटकों में प्राच्या और आवन्ती प्राकृत भाषायें	४३
	ङ) नायिकाओं आदि पात्रों की प्रिय-भाषा	४३
	च) संस्कृत नाटकों में प्राकृत सम्वादों की अधिकता	४४
	छ) संस्कृत नाटकों में प्राकृत सम्वादों की उपेक्षा क्यों ?	४५
२८.	सट्टकः प्राकृत नाटकों की एक विशिष्ट विधा	४५
	क) सट्टक की विशेषतायें	४५
	ख) उपलब्ध प्रमुख सट्टक	४६
२९.	प्राकृत के प्रमुख व्याकरण शास्त्र	४७
३०.	प्राकृत भाषा की भाषागत प्रमुख विशेषतायें	५०

३१. प्राकृत भाषाओं का भाषागत वैशिष्ट्य	५२
१. पालि भाषा —	५२
क) पालि और प्राकृत	५३
ख) पालि-प्राकृत में समानतायें	५३
ग) पालि-गद्य का उदाहरण	५४
घ) पालि धम्मपद की गाथाओं का उदाहरण	५५
२. मागधी प्राकृत	५५
क) मागधी प्राकृत की सामान्य विशेषतायें	५६
ख) मागधी प्राकृत का उदाहरण — प्रत्यभिज्ञानकम्	५७
ग) मागधी गाथा का उदाहरण	५९
३. अर्धमागधी प्राकृत	५९
क) अर्धमागधी की कतिपय विशेषतायें	६०
ख) अर्धमागधी प्राकृत का प्रमुख आगम साहित्य —	६०
१. अंग आगम साहित्य, २. उपांग आगम साहित्य,	
३. मूलसूत्र, ४. छेदसूत्र, ५. प्रकीर्णक, ६. दो चूलिका-सूत्र,	
७. व्याख्या साहित्य	
ग) अर्धमागधी-गद्य का उदाहरण	६२
घ) अर्धमागधी-गाथाओं का उदाहरण	६४
४. शौरसेनी प्राकृत	६६
क) नाटकों की शौरसेनी	६७
ख) नाटकों और जैनसिद्धान्त ग्रन्थों की शौरसेनी	६८
ग) शौरसेनी की भाषागत प्रमुख विशेषतायें	६८
घ) शौरसेनी प्राकृत का उपलब्ध प्रमुख साहित्य	७०
ङ) शौरसेनी प्राकृत गद्यांश का उदाहरण	७१
च) शौरसेनी-गाथाओं के उदाहरण	७३

५. महाराष्ट्री प्राकृत	७४
क) भाषागत विशेषतायें	७५
ख) महाराष्ट्री प्राकृत में रचित साहित्य	७६
ग) प्राकृत काव्य साहित्य -	७६
१. शास्त्रीय महाकाव्य, २. खण्डकाव्य, ३. चरितकाव्य,	
४. गद्य-पद्य मिश्रित चरित काव्य, ५. चम्पूकाव्य,	
६. मुक्तक काव्य, ७. रसेतर मुक्तक काव्य;	
घ) प्राकृत कथा साहित्य	७७
ङ) प्रमुख कथा ग्रन्थ	७८
च) महाराष्ट्री प्राकृत के गद्य का उदाहरण -	८१
अमंगलिय पुरिसस्स कहा	
छ) महाराष्ट्री-गाथाओं के उदाहरण	८३
६. पैशाची प्राकृत	८६
क) सामान्य विशेषतायें	८६
ख) पैशाची प्राकृत का उदाहरण	८७
७. चूलिका पैशाची प्राकृत	८८
क) चूलिका की भाषागत सामान्य विशेषतायें	८८
ख) चूलिका पैशाची का उदाहरण	८९
८. अपभ्रंश भाषा	८९
क) अपभ्रंश का उद्भव और विकास	९०
ख) अवहट्ट और अपभ्रंश	९१
ग) भाषा-विकास की सामान्य प्रक्रिया है, अपभ्रंश	९२
घ) भाषा विकास में देशी भाषायें और अपभ्रंश	९२
ङ) अपभ्रंश भाषा के भेद	९४
च) अपभ्रंश की सामान्य विशेषतायें	९५

छ) अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि में सभी परम्पराओं का योग	१६
ज) अपभ्रंश साहित्य में जनवादी स्वर	१८
झ) अपभ्रंश के प्रति बढ़ता सम्मान	१९
ञ) हिन्दी का प्राचीन स्वरूप है, अपभ्रंश	१००
प) प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी : अन्तः सम्बन्ध	१०२
३२. अपभ्रंश भाषा के उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ -	१०७
क) चरित काव्य, ख) प्रेमाख्यानक काव्य, ग) कथा साहित्य, घ) रास काव्य, ङ) खण्ड काव्य	
३३. अपभ्रंश दोहों के उदाहरण	१०९
३४. अपभ्रंश गद्य का उदाहरण	११०
३५. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि आठ भाषाओं से युक्त चन्द्रप्रभस्वामि स्तवन	११३
३६. निष्कर्ष	११६
३७. प्राकृत निबन्ध -	
क) मनोरमं उज्जाणं	११९
ख) तित्थयर-महावीर-चरियं	१२०
३८. प्राकृत भाषा में अंकों की गणना (गिनती)	१२६
३९. क्रमवाचक संख्यावाची शब्द	१३०
४०. प्राकृत की प्रमुख सूक्तियाँ -	१३१
क) दसवेआलियं से, ख) समणसुत्तं से, ग) वज्जालग से, घ) अपभ्रंश पउमचरिउ से	
४१. प्राकृत भाषा के विकास हेतु केन्द्र सरकार के समक्ष प्रस्तुत छह सुझाव	१३८
४२. सहायक ग्रन्थ सूची	१४१

प्राकृत भाषा विमर्श

प्राकृत भाषा और उसका वैशिष्ट्य

पृष्ठभूमि

भाषा व्यक्ति के अन्दर के मनोभावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। विविध भाषायें और संस्कृतियाँ प्रदेश और क्षेत्र विशेष के भूगोल तथा इतिहास की देन हैं। अतः यह सम्पूर्ण विश्व भाषाओं तथा संस्कृतियों का रंगस्थल है, जिसे हम रंग-बिरंगे फूलों का सुन्दर उपवन कह सकते हैं और विविध रंगों, आकारों के फूलों की भाँति भाषाओं की यह विविधता ही उसका सौन्दर्य है। भारत में भी सहस्रों भाषायें और बोलियाँ हैं। इनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी प्राचीन भारतीय भाषाओं का अपना विशेष महत्त्व है। ये भाषायें भारतीय संस्कृति और साहित्य की आत्मा हैं।

संस्कृत-भाषा और इसके विशाल साहित्य के सार्वभौमिक महत्त्व से तो प्रायः सभी सुपरिचित हैं, किन्तु अतिप्राचीन काल से जनभाषा के रूप में प्रचलित मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि रूपों में जीवन्त प्राकृत भाषाओं और इनके विशाल साहित्य से भारतीय जनमानस उतना परिचित नहीं है, जबकि प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान, तत्त्वज्ञान, संस्कृति और इतिहास तथा लोक-परम्पराओं आदि के सम्यक् ज्ञान हेतु प्राकृत भाषा और इसके विविध एवं विशाल साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है।

प्राकृत मूलतः लोकजीवन और लोकसंस्कृति की भाषा है। इस भाषा के साहित्य में मानव जीवन की स्वाभाविक वृत्तियों और नैसर्गिक गुणों की सहज-सरल अभिव्यक्ति हुई है। सम्राट् अशोक और कलिंग-नरेश खारवेल आदि के अनेक प्राचीन शिलालेख इसी प्राकृत भाषा और ब्राह्मीलिपि में उपलब्ध होते हैं। भाषाविदों ने भारत-ईरानी भाषा के परिचय के अन्तर्गत भारतीय आर्य शाखा परिवार का विवेचन किया है। प्राकृत इसी भाषा परिवार की एक आर्य भाषा है।

प्राकृत भाषा क्या है ? अर्थ एवं महत्त्व

भाषा स्वभावतः गतिशील तत्त्व है। भाषा का यह क्रम ही है कि वह प्राचीन तत्त्वों को छोड़ती जाए एवं नवीन तत्त्वों को ग्रहण करती जाए। प्राकृत भाषा भारोपीय परिवार की एक प्रमुख एवं प्राचीन भाषा है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल में वैदिक भाषा का विकास तत्कालीन लोकभाषा से हुआ। प्राकृत भाषा का स्वरूप तो जनभाषा का ही रहा। प्राकृत एवं वैदिक भाषा में विद्वान् कई समानताएँ स्वीकार करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा और प्राकृत के विकसित होने से पूर्व जनसामान्य की कोई एक स्वाभाविक समान भाषा रही होगी जिसके कारण इसे 'प्राकृत' भाषा का नाम दिया गया।

मूलतः प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्" है। १०वीं शती के विद्वान् कवि राजशेखर ने प्राकृत को 'योनि' अर्थात् सुसंस्कृत साहित्यिक भाषा की जन्मस्थली कहा है।

रुद्रटकृत काव्यालंकार में भाषाओं के भेदों के सम्बन्ध में कहा गया है — प्राकृत-संस्कृत-मागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।

षाष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥ २/१२॥

विद्वान् व्याख्याकार नमि साधु (११वीं शताब्दी) इसकी व्याख्या

करते हुए 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं -

“प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। वा प्राक् पूर्व कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषा-निबंधनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादिविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तर-विभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणोऽन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।”

प्रकृति शब्द का अर्थ है - व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन स्वाभाविक वचन-व्यापार, उससे उत्पन्न; अथवा वही भाषा प्राकृत है। अथवा जो पहले हो, उसे प्राकृत कहते हैं, जो बालक, महिला आदि को सरलता से समझ में आ सकती हो और जो समस्त भाषाओं की मूल हो, वह प्राकृत है। यही प्राकृत मेघयुक्त जल के समान, पहले एक रूप होने पर भी देशभेद से और संस्कार किये जाने पर भिन्नता को प्राप्त करती हुई संस्कृत आदि अवान्तर भेदों में परिणत होती है। अतएव मूल ग्रन्थकार (रुद्रट) ने पहले प्राकृत का और तत्पश्चात् संस्कृत का निर्देश किया है। पाणिनि आदि के व्याकरणों के अनुसार, 'संस्कार' प्राप्त करने के कारण यह भाषा 'संस्कृत' कही जाती है।

वस्तुतः संस्कृत प्राचीन होते हुए भी सदा मौलिक रूप धारण करती है, इसके विपरीत प्राकृत चिर युवती है और जिसकी सन्तानें निरन्तर विकसित होती जा रही हैं।

जिस प्रकार प्राकृत ने संस्कृत के अनेक शब्दों, ध्वनिरूपों एवं काव्यरूपों को ग्रहण कर अपना साहित्य विकसित किया है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा भी समय-समय पर प्राकृत से प्रभावित होती हुई प्राकृत के अनेक शब्दों और प्रयोगों को इससे ग्रहण करती रही है।

महाकवि वाक्पतिराज (आठवीं शताब्दी) ने प्राकृत भाषा को जनभाषा माना है और इससे ही समस्त भाषाओं का विकास स्वीकार किया है। गउडवहो में वाक्पतिराज ने कहा भी है -

सयलाओ इमं वाआ विसन्ति एत्तो य णेंति वायाओ।

एन्ति समुदं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं ॥ ९३ ॥

अर्थात् 'सभी भाषाएं इसी प्राकृत से निकलती हैं और इसी को प्राप्त होती हैं। जैसे सभी नदियों का जल समुद्र में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प रूप में) बाहर निकलकर नदियों के रूप में परिणत हो जाता है।' तात्पर्य यह है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है, अपितु सभी भाषायें इसी प्राकृत से ही उत्पन्न हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की मान्यता है कि 'प्राकृत' नाम से जो भाषा आज जानी जाती है, वह साहित्यिक भाषा है, किन्तु एक मूल प्राकृत भाषा भी थी, जो संस्कृत से भी प्राचीन है। यह मूल प्राकृत जनभाषा थी और इसी ने साहित्यिक प्राकृत को जन्म दिया तथा यही भाषा बाद में अपभ्रंश कहलाई।

प्राकृत का लोकभाषा / जनभाषा - स्वरूप

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा ने साहित्य में जो परिनिष्ठित स्वरूप 'संस्कृत' से नाम प्राप्त किया, उसमें शब्दानुशासन की अनेक दुर्बोध जटिलतायें उत्पन्न हो गई थीं। फलतः जब लोकभाषा के रूप में प्राचीन काल से ही पूर्व प्रचलित प्राकृत भाषा ने साहित्य-रचना का दायित्व सम्भाला, तब उसके परिनिष्ठित स्वरूप में संस्कृत की व्याकरणिक जटिलताएं यथा-सम्भव समाप्त करने की गईं। अतः प्राकृत भाषायें आरम्भ से ही सहज, सरल, सरस, सुबोध एवं माधुर्य से ओतप्रोत रही हैं। इसलिए ये इतनी व्यापकता के साथ जनमानस में आकर्षण उत्पन्न कर सकीं।

प्राकृत भाषा अनेक शताब्दियों तक जनसामान्य से जुड़ी जुई बोलचाल की प्रमुख लोक (जन) भाषा रही है। अतः सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, लोक-परम्परायें और सम्पूर्ण जन-मानस आज भी इससे प्रभावित एवं ओतप्रोत है। यही कारण है कि प्राकृत भाषा को अनेक प्रमुख भारतीय भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। देश की प्रायः सभी भाषायें और उनका साहित्य प्राकृत भाषा से प्रभावित है। वेदों की भाषा में प्राकृत भाषा के विविध संकेत बहुतायत रूप में उपस्थित हैं।

अति सरल ध्वन्यात्मक और व्याकरणात्मक प्रवृत्ति के कारण यह प्राकृत भाषा लम्बे समय तक जनसामान्य के बोलचाल की भाषा बनी रही। इसीलिए भगवान् महावीर और बुद्ध ने जनता के सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपने उपदेशों में इसी लोकभाषा प्राकृत का आश्रय लिया, जिसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक आदि विविधताओं से परिपूर्ण आगमिक एवं त्रिपिटक जैसे मूल आगमशास्त्रों की रचना सम्भव हुई।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्राकृत भाषा गाँवों की झोपड़ियों से राजमहलों और राजसभाओं तक समादृत होने लगी थी। अतः वह अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम चुन ली गयी थी। महाकवि हाल ने इसी समय प्राकृत भाषा के प्रतिनिधि कवियों की गाथाओं का संकलन कर एक गाथाकोश (गाथासप्तशती) तैयार किया, जो एक प्राकृत साहित्य का उत्कृष्ट प्राचीन ग्रन्थ तो है ही साथ ही ग्रामीण जीवन और सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिधि लोकप्रिय ग्रन्थ भी है।

इस प्रकार प्राकृत ने अपना नाम सार्थक कर लिया और यह शब्द स्वाभाविक वचन-व्यापार का पर्यायवाची बन गया। समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत भाषा प्राकृत थी। इस कारण प्राकृत की शब्द-सम्पत्ति दिनों दिन बढ़ती रही। इस शब्द-ग्रहण की प्रक्रिया के

कारण प्राकृत ने एक ओर भारत की विभिन्न भाषाओं के साथ अपनी घनिष्ठता बढ़ायी तो दूसरी ओर वह लोक जीवन और साहित्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी बनी।

लोकभाषा जब जन-जन में लोकप्रिय हो जाती है तथा जब उसकी शब्द-सम्पदा बढ़ जाती है, तब वह काव्य की भाषा भी बनने लगती है। प्राकृत भाषा को यह सौभाग्य दो प्रकार से प्राप्त है। एक तो इसमें विशाल आगम और उनका व्याख्या साहित्य उपलब्ध है और दूसरा इसमें विपुल मात्रा में कथा, काव्य एवं चरित्रग्रन्थ आदि लिखे गये हैं, जिनमें काव्यात्मक सौन्दर्य और मधुर रसात्मकता का समावेश है। साहित्य जगत् में काव्य की प्रायः सभी विधाओं-महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक-काव्य आदि को प्राकृत भाषा ने विविध रूपों में समृद्ध किया है। इस साहित्य ने प्राकृत भाषा को प्राचीनकाल से अब तक प्रतिष्ठित रखा है।

प्राकृत भाषा का माधुर्य

प्राकृत में जो सहस्राधिक आगम ग्रन्थ, व्याख्या साहित्य, कथा एवं चरित्रग्रन्थ आदि उपलब्ध हैं, उनमें काव्यात्मक सौन्दर्य और मधुर रसात्मकता भरी पड़ी है। प्राकृत भाषा ने पिछले २३०० वर्षों के सुदीर्घ जीवनकाल तक इन विधाओं को निरन्तर जीवित एवं समृद्ध बनाये रखा है। प्राकृत को तत्कालीन समाज की मातृभाषा कहना अधिक उपयुक्त होगा।

एक समय तो प्राकृत भाषा का ऐसा स्वर्ण युग अर्थात् साम्राज्य रहा है कि मधुर, मधुरतर विषयों की अभिव्यक्ति में प्राकृत भाषा का स्थान सर्वोच्च रहा है। यही कारण है कि तत्कालीन श्रेष्ठ महाकवियों ने प्राकृत को अपने महाकाव्यों की रचना का मुख्य माध्यम बनाया है। नौरसों में शृंगार सर्वाधिक मधुर है और तत्कालीन विद्वानों का यही निर्णय था कि शृंगार के अधिष्ठाता देवता कामदेव की केलिभूमि प्राकृत ही है।

उस समय के लोग यह घोषणा करने में बहुत ही गौरव का अनुभव करते थे कि -

अमिअं पाउअकव्वं पढिअं सोउं अ जे ण आणन्ति।

कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥गा०स० १/२॥

(अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति।

कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते॥)

अर्थात्, अमृतभूत 'प्राकृत-काव्य' को जो न पढ़ना जानते हैं, न सुनना ही, उन्हें काम की तत्त्वचिन्ता (वार्ता) करते लज्जा क्यों नहीं आती? यह उद्घोषणा केवल प्राकृत के पण्डितों की ही नहीं थी, अपितु संस्कृत के शीर्षस्थ विद्वानों ने की थी और वे स्वयं प्राकृत भाषा के उत्कृष्ट प्रशंसक भी थे।

संस्कृत के यायावर महाकवि राजशेखर को कौन संस्कृतज्ञ नहीं जानता, जिनके 'बालरामायण' (दस अंकों का विशाल-नाटक), 'विद्धशालभंजिका' (चार अंकों की श्रेष्ठ-नाटिका) आदि रूपक-काव्य संस्कृत के रूप को बड़ी सुष्ठुता एवं सुचारुता से, उभारते, सँवारते हैं और जिनकी प्रख्यात एवं अद्वितीय काव्यशास्त्रीय संस्कृत-कृति 'काव्यमीमांसा' पण्डित समाज में साहित्यशास्त्र की रचना प्रक्रिया एवं रसन व्यापार की अद्भुत व्याख्या प्रस्तुत करती है।

ऐसे महाकवि राजशेखर ने भी उस समय प्राकृत के समक्ष संस्कृत की गौण ठहरा दिया और अपने प्रसिद्ध प्राकृत सट्टक 'कर्पूरमंजरी' (सम्पूर्ण प्राकृत भाषा में लिखित नाटकों - उपरूपकों की सट्टक नामक एक प्रसिद्ध विधा में उस महाकवि ने स्पष्ट शब्दों में प्राणोन्मेषिणी प्राकृत-भाषा का समर्थन करते हुए कहा -

परुसा सक्कअ बन्धा पाउअ बन्धोवि होउ सुउमारो।

पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥ कर्पूरमंजरी॥

(परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोऽपि भवति सुकुमारः।

पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावदेतेषाम्॥)

अर्थात्, संस्कृतबद्ध काव्य कठोर-कर्कश होते हैं, किन्तु प्राकृतबद्ध काव्य ललित और कोमल। यानी, परुषता संस्कृत की औ सुकुमारता प्राकृत की मौलिक विशेषता है। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष और स्त्री में अर्थात् संस्कृत भाषा पुरुष के समान कठोर तं प्राकृत भाषा स्त्रियों के समान कोमल/सुकुमार होती है।

मुनि जयवल्लभ (जयवल्लभ) ने भी अपने प्रसिद्ध प्राकृत काव्य ग्रन्थ 'बज्जालग' में प्राकृत की संस्कृतातिशायी श्लाघा करते हुए कह है - ललिते महुरक्खरए जुवईजणवल्लभे सशृंगारे।

सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउं॥ २९॥

(ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृंगारे।

सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम्॥)

अर्थात् ललित, मधुर अक्षरों से युक्त युवतियों के लिए मनोरम एवं प्रीतिकर तथा शृंगार रस से ओतप्रोत प्राकृत-काव्य के रहते हुए कौन संस्कृत-काव्य पढ़ना चाहेगा ?

प्राकृत भाषाओं की लोकप्रियता और माधुर्य का सहज ज्ञान हमें संस्कृत के लाक्षणिक ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में उद्धृत प्राकृत गाथाओं एवं संस्कृत भाषा के समृद्ध नाट्य साहित्य में उपलब्ध विविध प्राकृत भाषाओं के अधिकांश संवादों से हो जाता है। मम्मट (काव्यप्रकाशकार) जैसे अनेक संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों ने भी सहजता और मधुरता के कारण प्राकृत की गाथाओं को अपने अलंकार शास्त्रों में उदाहरणों, दृष्टान्तों के रूप में अपनाकर इन्हें सुरक्षित रखा है।

इस तरह प्राकृत भाषा केवल एक भाषा-विशेष ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय संस्कृति का दर्पण तो है ही, साथ ही अपने देश के क्षेत्र या प्रदेश (देश) विशेष की अधिकांश भाषाओं का मूलस्रोत एवं

अनेक क्षेत्रीय जनभाषाओं का एक बृहत् समूह है, जिसमें अनेक भाषायें समाहित हैं। यथा— मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका पैशाची, शिलालेखी और अपभ्रंश आदि हैं।

बुद्ध वचनों की पालि भाषा भी एक प्रकार की प्राकृत भाषा ही है। ये सभी एक ही विकास-धारा की विभिन्न कड़ियाँ हैं, जिनमें भारतीय संस्कृति, समाज एवं लोक-परम्पराओं की विविध मान्यताओं के साथ ही भाषा तथा विचारों का समग्र इतिहास लिपिबद्ध है।

प्राकृत की सार्वभौमिकता एवं विविध विषयों का प्रतिपादन

प्राकृत किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष या काल विशेष की भाषा नहीं है, अपितु इसका स्वरूप सदा से सार्वभौमिक रहा है। अपने प्रिय भारत जैसे विशाल देश के प्राणों में स्पन्दित होने वाली उन बोलियों के समूह से है, लगभग जो लगभग ईसा पूर्व की छठी शताब्दी से लेकर ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक लगभग दो हजार वर्षों तक प्रतिष्ठित रही है।

कुछ लोग तथागत भगवान् बुद्ध-वचनों की पालि भाषा की भाँति प्राकृत भाषा को मात्र जैन धार्मिक-साहित्य की भाषा कहकर अनदेखा कर देते हैं, किन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र है। क्योंकि यदि प्राकृत भाषा मात्र जैनागम साहित्य तक ही सीमित होती तो उक्त कथन सत्य प्रतीत होता, किन्तु प्रायः सभी परम्पराओं के भारतीय मनीषियों द्वारा व्याकरण, रस, छन्द अलंकार, शब्दकोश, आयुर्वेद, योग, ज्योतिष, राजनीति, धर्म-दर्शन, गणित, भूगोल, खगोल, कथा-काव्य, चरित-काव्य, नाटक-सट्टक, नीति-सुभाषित, सौन्दर्य आदि विषयों में रचा गया विशाल साहित्य प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध है।

प्राकृत भाषा में साहित्य सृजन का यह क्रम केवल भूतकाल तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वर्तमान काल में आज भी इसका सृजन अबाध गति से चल रहा है। वर्तमान युग में सृजित विविध विधाओं का

उपलब्ध प्राकृत साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि वर्तमान समय में भी अनेक मुनि, आचार्य एवं विद्वान् प्राकृत भाषा की विविध विधाओं में तथा इससे सम्बद्ध विषयों पर हिन्दी, अंग्रेजी तथा देश की प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में रचनायें लिख रहे हैं। अतः यह भाषा एवं इसका विशाल प्राकृत साहित्य सार्वजनीन और सार्वभौमिक होते हुए हमारे राष्ट्र की बहुमूल्य धरोहर है।

प्राकृत भाषा के मूल दो भेद —

१. प्रथम स्तरीय प्राकृत — इसके कथ्य और साहित्य निबद्ध—ये दो भेद हैं। कथ्य भाषा प्राचीन काल में जनबोली के रूप में विद्यमान थी। इसका साहित्य नहीं मिलता है, किन्तु उसकी झलक छान्दस साहित्य में मिलती है। इसे प्रथम स्तरीय प्राकृत कहते हैं।

२. द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा अर्थात् साहित्य निबद्ध भाषा को तीन युगों में बांटा गया है — १. प्रथम युग (६०० BC से २०० AD), २. मध्य युग (२०० AD से ६०० AD), ३. उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश युग (६०० AD से १२०० AD)।

१. प्रथम युगीन प्राकृतों के अन्तर्गत — १. शिलालेखी प्राकृत, २. धम्मपद की प्राकृत, ३. आर्ष-पालि, ४. प्राचीन जैन सूत्रों की प्राकृत, ५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत हैं। इनका काल ईसा पूर्व छठी शती से द्वितीय शताब्दी है।

२. मध्य युगीन प्राकृतों के अन्तर्गत — १. भास और कालिदास के नाटकों की प्राकृत, २. गीतिकाव्यों और महाकाव्यों की प्राकृत, ३. परवर्ती जैन काव्य (साहित्य) की प्राकृत, ४. प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निरूपित प्राकृतें, ५. बृहत्कथा की पैशाची प्राकृत हैं। इनका काल द्वितीय से छठी शती तक है।

३. उत्तर अर्वाचीन युग का अपभ्रंश युग — ६०० ई. से १२०० ई. तक। इसमें विभिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषाएं आती हैं। जैसे मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची आदि।

प्राकृत शिलालेखों में जनभाषा का स्वरूप निदर्शन

प्राकृत-जन-भाषा के रूप में इतनी प्रतिष्ठित थी कि सम्राट अशोक के समय एक विशाल साम्राज्य की राज्यभाषा होने का गौरव प्राकृत भाषा को प्राप्त हुआ और उसकी यह प्रतिष्ठा हजारों वर्षों तक आगे बढ़ती रही। सम्राट अशोक ने (ई. पूर्व २७०-२५० के मध्य) भारत के विभिन्न भागों में अभिलेखों में जो राज्यादेश प्रचारित किये उनके लिए उसने दो सशक्त माध्यमों को चुना। एक तो उसने अपने समय की जनभाषा प्राकृत एवं ब्राह्मी लिपि में इन अभिलेखों को तैयार कराया ताकि वे जन-जन तक पहुँच सकें और दूसरे इन्हें पत्थरों पर खुदवाया ताकि वे सदियों तक नैतिक मूल्यों के रूप में अहिंसा, सदाचार और समन्वय का सन्देश देते रहें। सम्राट अशोक के अभिलेखों की संख्या लगभग तीस है। इनमें मात्र शाहबाजगढ़ी एवं मनसेरा के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं, शेष सभी ब्राह्मी लिपि में प्राप्त हैं।

ईसा पूर्व ३०० से लेकर ४०० ईस्वी तक इन सात सौ वर्षों में लगभग दो हजार अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। यह सामग्री केवल प्राकृत भाषा के ही विकास क्रम एवं महत्त्व के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति और इतिहास के लिए भी एक बहुमूल्य महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, आमुख पृ. ७) के अनुसार प्राकृत-भाषा का जनता में प्रचार था, जनता इसका उपयोग करती थी; इसका सबसे बड़ा प्रमाण शिलालेख ही हैं। शिलालेखों, सिक्कों और राजाज्ञाओं में सर्वदा जनभाषा का व्यवहार किया गया है। अशोक ने धर्माज्ञाएँ प्राकृत में प्रचारित की थीं; उनके धर्म-शिलालेख शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मंसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी जिला), जौगढ़ (गंजाम जिला) और इरागुडी (निजाम रियासत)

से प्राप्त हुए हैं। स्तम्भ लेख टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशम्बी (इलाहाबाद), रामपुरवा (अरेराज), लौरिया (नन्दनगढ़), रूपनाथ (जबलपुर), सहसराम (शाहाबाद), वैराट (जयपुर) प्रभृति स्थानों से प्राप्त हुए हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्राकृत का जनभाषा के रूप में सर्वत्र प्रचार था। आन्ध्र राजाओं के शिलालेखों के अतिरिक्त लंका, नेपाल, कांगड़ा और मथुरा प्रभृति स्थानों से प्राकृत भाषा में लिखे गये शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। सागर जिले से ईसा पूर्व तीसरी शती का धर्मपाल का सिक्का मिला है, जिसपर 'धर्मपालस' लिखा है। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिक्का ईसा पूर्व दूसरी का शती का खरोष्ठी लिपि में लिखा दिमित्रियस का मिला है, जिस पर 'महरजस अपरजितस दिमे' लिखा है। इतना ही नहीं ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शती तक के प्रायः समस्त शिलालेख प्राकृत में ही लिखे उपलब्ध हुए हैं। अतः जनभाषा के रूप में प्राकृत का प्रचार प्राचीन भारत में था।

वैदिक (छान्दस) भाषा और प्राकृत

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के अन्तर्गत संस्कृत-भाषा के दो रूप विद्यमान हैं — वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत। इनमें प्राचीन संस्कृत के रूप में जानी जाने वाली छान्दस भाषा, वैदिक-संस्कृत के रूप में प्रसिद्ध है। प्राचीन चारों वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदों की भाषा वैदिक संस्कृत मानी जाती है। यद्यपि इन सबके उपलब्ध शताधिक ग्रन्थों की भाषा में एकरूपता नहीं दिखती। ऋग्वेद के प्रथम और दसवें मण्डल को छोड़कर शेष की भाषा काफी प्राचीन है। जबकि प्रथम और दसवें मण्डल की भाषा बाद की प्रतीत होती हैं। इसी तरह अन्य तीनों वेदों (यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) की भाषा, ब्राह्मणों और उपनिषदों की (कुछ अपवादों को छोड़कर) भाषा का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। वेदों में वैदिक-संस्कृत के जो रूप आज

उपलब्ध हैं, उन्हें उस काल की बोलचाल का रूप नहीं माना जा सकता। क्योंकि तत्कालीन बोलचाल की भाषा के वे साहित्यिक रूप मात्र हैं।

वैदिक संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में काफी समानतायें विद्यमान हैं। वैयाकरणों ने भाषा का संस्कार करके शुद्ध भाषा (संस्कृत) का जो स्वरूप निर्धारित कर दिया गया। वह भाषा लेखकों द्वारा साहित्य की भाषा के रूप में विकसित होती रही। दूसरी ओर लोकभाषा भी अबाध गति से निरन्तर विकसित होती जा रही थी। इस विकास के फलस्वरूप इस भाषा का जो स्वरूप सामने आया उसे 'प्राकृत भाषा' कहा जाने लगा। इस प्रकार संस्कृत के काल में जो बोलचाल की भाषा थी, वही प्राकृत के रूप में विकसित होती रही और उसी का विकसित रूप साहित्यिक प्राकृत के रूप में हुआ।

इन परिवर्तित रूपों के कारण जो नवीन बोलियाँ या भाषायें समय-समय पर लोक में प्रचलित हो जाती हैं। कालान्तर में वैयाकरण उनके लिये एक नियम की, एक रूपता की व्यवस्था करते हैं। वे किसी नवीन भाषा को निर्मित नहीं करते अपितु प्रचलित भाषा की स्वरूप व्यवस्था ही करते हैं।

वस्तुतः किसी भी भाषा का स्वरूप निर्मित होने में एक लम्बी अवधि की आवश्यकता होती है। अतः जिस देवभाषा संस्कृत का विकास छान्दस अर्थात् वैदिक-भाषा से हुआ है, उसी प्रकार वैदिककाल में प्रचलित जनभाषाओं से प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है, जिसका प्रमाण प्राचीन वैदिक वाङ्मय विशेषकर प्रथम ऋग्वेद में सुरक्षित 'तितउ', 'प्रकट', 'निकट' आदि कुछ शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। यह ध्यातव्य है कि विश्व में उपलब्ध प्राचीनतम शास्त्रों में ऋग्वेद की गणना की जाती है। इसीलिए इसे विश्व धरोहर के रूप में मान्य किया गया है।

प्राच्य भाषाविद् और साहित्यकार प्रॉ. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने पुरानी हिन्दी नामक अपनी पुस्तक में प्राकृत-भाषा और छान्दस का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखा है - “ऋग्वेद पूर्वकालीन जनसामान्य की आदिम प्राकृत से विकसित-भाषा ही वह छान्दस है, जिससे कि ऋग्वेद की रचना हुई। यही नहीं, बल्कि उनके अनुसार आदिम प्राकृत से विकसित उक्त छान्दस से परवर्ती युगों में दो साहित्यिक भाषाओं का विकास हुआ - लौकिक संस्कृत एवं साहित्यिक प्राकृत। आगे चलकर नियमबद्ध हो जाने के कारण लौकिक-संस्कृत का प्रवाह तो अवरुद्ध हो गया, जबकि प्राकृत का प्रवाह बिना किसी अवरोध के आगे चलता रहा, जिससे क्रमशः अपभ्रंश-भाषा तथा उस अपभ्रंश से ब्रज, हिन्दी, मैथिल, मगही, भोजपुरी, बंगला, उड़िया, बुन्देली आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ।

स्कम्भ, विकट, कीकट, निकट, दण्ड, पठ्, घट्, क्षुल्ल, उच्चा, नीचा, पशवा, भोतु, दूडभ, दूलभ, इन्द्रावरुणा, मित्रावरुण जैसे अनेक शब्द वेदों में विद्यमान हैं, जो तत्कालीन जनभाषाओं में प्रचलित रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिककाल में प्रादेशिक बोलियों आदि के रूप में जनभाषायें विद्यमान थीं, जिनका प्रभाव छान्दस पर पड़ा है। इस तरह वैदिक-भाषा के समानान्तर जनभाषा के रूप में प्राकृत-भाषा निरन्तर विकसित होती जा रही थी।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में सुरक्षित है। छान्दस या वैदिक भाषा उस समय की साहित्यिक भाषा थी, जो जनभाषा का परिष्कृत रूप है छान्दस भाषा, जिसमें लोक भाषा के अनेक स्रोत मिश्रित थे, पाणिनी ने जिस भाषा को व्याकरण द्वारा परिमार्जित और परिष्कृत किया, साहित्यिक संस्कृत रूप को प्राप्त हुई। आचार्य पाणिनी ने वैदिक वाङ्मय की भाषा को छान्दस और लोकभाषा को भाषा कहा है। इससे भी प्राकृत की प्राचीनता और

लोकप्रियता ज्ञात होती है। इसीलिए वैदिक काल से जनसामान्य द्वारा दैनिक व्यवहार में बोली जाने वाली जनभाषा प्राकृत को तीर्थंकर महावीर और भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश देने का माध्यम बनाया।

जब से प्राकृत में साहित्यिक रचना प्रारम्भ हुई, तभी से वह संस्कृत की प्रतिस्पर्धा में आ गयी और संस्कृत के समानान्तर ही इसका साहित्यिक विकास होने लगा। वैदिकभाषा के समानान्तर जनभाषा, जिसे प्राकृत कहा गया है, निरन्तर विकसित होती जा रही थी। ये रूप वस्तुतः प्राकृत या देश्य थे, जो शनैः शनैः वैदिक भाषा में भी मिश्रित हो गये।

छान्दस भाषा से प्राकृत भाषा का विकास

छान्दस को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा कहा गया है। एक ही मूलस्रोत से विकसित छान्दस और लौकिक संस्कृत — ये दोनों भाषाएं साहित्यिक रूप धारण कर स्थिर हो गईं, किन्तु भाषा का प्रवाह नदी के जल की भाँति निरन्तर होता रहा है। छान्दस के पहले की जो जनभाषा प्रवहमान थी, उससे प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। इस प्राकृत के अनेक रूप/शब्द छान्दस (ऋग्वेद और अथर्ववेद) में आज भी सुरक्षित हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों का मूलस्रोत तत्कालीन जनभाषा तथा छान्दस है।

डॉ. पी. डी. गुणे ने लिखा है — प्राकृतों का अस्तित्व निश्चित रूप से वैदिक बोलियों के साथ-साथ वर्तमान था। इन्हीं प्राकृतों से परवर्ती साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ। वेदों एवं पण्डितों की भाषा के साथ-साथ मंत्रों की रचना के समय भी एक ऐसी भाषा प्रचलित थी, जो पण्डितों की भाषा से अधिक विकसित थी। इस भाषा में मध्यकालीन भारतीय बोलियों की प्राचीनतम अवस्था की प्रमुख विशेषतायें वर्तमान थी। (एन इन्ट्रो. टू कम्परेटिव फिलासफी, पृ. १६३)

डॉ. पिशल ने (प्राकृत भा. का व्याकरण, पृ. १४) लिखा है — “प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमीं हुई हैं और इनके मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती जागती और बोली जाने वाली

भाषा को लिए हुये हैं, किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुईं, संस्कृत की भांति ही बहुत ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाए।”

डॉ. एलफेड सी. वुल्नर (इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, पृ. ३-४) ने लिखा है — “संस्कृत शिष्ट समाज की और प्राकृत जनसाधारण की भाषा है। प्राकृत का सम्बन्ध श्रेण्य संस्कृत की अपेक्षा छान्दस से अधिक है। क्योंकि इस साहित्य के प्राकृत का मुख्य भाग संस्कृत शब्दों से बना है। छान्दस के साथ प्राकृत पद-रचनाओं एवं ध्वनियों की तुलना सहज में की जा सकती है।”

इस सबसे स्पष्ट है कि वैदिक काल में कोई ऐसी जनभाषा प्रचलित रही है, जिससे छान्दस साहित्यिक भाषा का विकास हुआ होगा। कालान्तर में इस छान्दस को भी पाणिनी ने अनुशासित कर इसमें से विभाषा के तत्त्वों को निकालकर लौकिक संस्कृत को जन्म दिया।

इस तरह बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप छान्दस के ही आधार पर वेदमन्त्रों की रचना हुई थी और उसका प्रसार और प्रभाव ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रग्रन्थों तक रहा। पीछे से वह छान्दस परिमार्जित होकर लौकिक संस्कृतरूप में प्रयुक्त होने लगी। साथ ही साथ बोलचाल की जनभाषा प्राकृत भाषा भी समृद्ध रूप में बनी रही।

वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत के वे शब्द जिनमें ‘न’ के स्थान पर ‘ण’ का प्रयोग हुआ है, प्राकृत रूप है। इस प्रकार छान्दस में प्राकृत भाषा के तत्त्वों का समावेश स्पष्ट करता है कि यह भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा प्राचीनतर है।

वर्तमान में प्राकृत भाषा का सबसे प्राचीन रूप जो इस समय हमें प्राप्त है, वह सम्राट अशोक और कलिंग नरेश खारवेल आदि के शिलालेखों, पालि त्रिपिटक और जैन आगम ग्रन्थों में उपलब्ध है। उसी

को हम प्राकृत का उपलब्ध प्रथम रूप कह सकते हैं। अतः जो विद्वान् प्राकृत को संस्कृत का विकृत रूप या संस्कृत से उद्भूत कह देते हैं। अब उन्हें अपनी मिथ्या धारणा छोड़कर अनेक भाषाओं की जननी प्राकृत भाषा के मौलिक एवं प्राचीन स्वरूप और उसकी महत्ता को समझ जाना चाहिए।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, प्रका. राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९५७, पृष्ठ १५), पण्डित प्रबोध बेचरदास (प्राकृत-भाषा, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, पृ. १३), डॉ. पी.डी. गुणे (एन इण्ट्रोडक्शन टू कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी सन् १९५०, पृ. १६३) जैसे भाषा वैज्ञानिकों के मतों के मन्थन से भी यह निष्कर्ष नवनीत रूप में निकलता है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का उद्भव और विकास प्राचीन जनभाषा से ही हुआ है। इस तरह छान्दस भाषा से वैदिक वाङ्मय का प्रणयन हुआ है, उसमें लोकभाषा के अनेक स्रोत उपलब्ध होते हैं। अतः छान्दस भाषा के अध्ययन के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन काफी उपयोगी सिद्ध होगा।

छान्दस भाषा में प्राकृत भाषा के तत्त्व

प्राकृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव ने अपनी पुस्तक “प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन” (पृ. ९८-९९) में लिखा है कि — भाषातत्त्व की दृष्टि से भी प्राकृत के स्वरूप-ज्ञान के बिना छान्दस भाषा का ‘पश्चात्’ की जगह ‘पश्या’, ‘युष्मान्’ की जगह ‘युष्मा’, ‘उच्चात्’ की जगह पर ‘उच्चा’ एवं ‘नीचात्’ की जगह ‘नीचा’ का प्रयोग मिलता है। ऐसे प्रयोग में दो स्थितियाँ हैं — प्रथम में, अन्त्य व्यंजन का लोप होता है और द्वितीय में, अन्त्य व्यंजन में दीर्घ ‘आ’ स्वर लगता है। स्पष्ट ही यह प्रवृत्ति प्राकृत-भाषा की है और इसका प्रवेश छान्दस भाषा में हुआ है।

इसी प्रकार, छान्दस भाषा की पदरचना का अध्ययन प्राकृत की पद रचना के अध्ययन के बिना अपूर्ण है; क्योंकि 'देवेभिः' जैसे अनेक रूप 'ऋग्वेद' में देखे जाते हैं, उनके विकसित रूप प्राकृत में भी प्रायः उपलब्ध है।

ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत ध्वनियों के अध्ययन के सन्दर्भ में प्राकृत ध्वनियों के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ - 'इंगाल' और 'मैरेय' - ये शब्द प्राकृत ध्वनि से युक्त प्राकृत भाषा के शब्द हैं। प्राकृत मूलध्वनि के शब्द इंगाल और मड़रेय' हैं, जिनको संस्कृत में ग्रहण किया गया है। यद्यपि 'मारिस' शब्द का विकास संस्कृत के 'मादृश' से सम्भावित है, परन्तु यह नितान्त भ्रम ही है। क्योंकि, यह शब्द आदर के अर्थ में सम्बोधन में प्रयुक्त है। संस्कृत नाटकों में यह प्राकृत भाषा से लिया गया है। कवि श्रीहर्ष ने 'इङ्गाल' (कोयला) शब्द का प्रयोग किया है - 'वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे।' (नैषध. १/९) यह शब्द भी प्राकृत से संस्कृत में ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार, 'मड़रेय' शब्द 'मदिरा' से विकसित ('मदिरेय') एवं प्राकृत ध्वनि से निष्पन्न शब्द है, किन्तु संस्कृत में इसका प्रयोग प्रचुरता से मिलता है और आयुर्वेद में तो इसे मद्य का पर्याय ही मान लिया गया है। (देखिए - भावप्रकाश, सन्धानवर्ग, श्लोक १७)

इस तरह उत्तरवैदिक काल की 'उदीच्य भाषा' प्राकृत-भाषा के अधिक निकट है। उदीच्य प्रदेश गान्धार के 'शालातुर' गाँव में जन्मे तथा तक्षशिला में शिक्षित संस्कृत के असाधारण विद्वान् महर्षि पाणिनि (ईसा पूर्व लगभग पांचवीं शताब्दी) ने इसी उदीच्य भाषा का आधार लेकर साहित्य एवं परिसंस्कृत रूप निर्माण के लिए अष्टाध्यायी के चार हजार सूत्रों में सर्वांगीण संस्कृत व्याकरण की रचना की। अतः संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के लिए निपातसिद्ध शब्दों, उपसर्गों तथा

अव्ययों का बोध आवश्यक है और इनका ज्ञान प्राकृत एवं देशी शब्दों के ज्ञान के बिना कठिन है।

इस प्रकार छान्दस के आधार से तत्कालीन भाषा को व्याकरण के माध्यम से नियन्त्रित कर, स्थिरता प्रदान करते हुए उस भाषा को नया रूप लौकिक संस्कृत के रूप में स्वरूप प्रस्तुत किया।

प्राकृत को सम्मान प्रदान करने वाले महापुरुष और कवि

प्राकृत भाषा को अपनाकर इसे व्यापकता प्रदान करने वाले अनेक महापुरुष हुए हैं। जैन धर्म एवं इसकी परम्परा के अनुसार तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों के प्रवचनों की भाषा प्राकृत ही रही है। तीर्थंकर महावीर की वाणी रूप में उपस्थित पवित्र विशाल आगम साहित्य आज विद्यमान है।

तीर्थंकर महावीर और गौतमबुद्ध दोनों ने ही अपने धर्मोपदेशों का माध्यम इसी लोकभाषा प्राकृत को बनाया। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषा को अर्द्धमागधी प्राकृत तथा गौतमबुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी (पालि) कहा गया है। इन दोनों महापुरुषों ने अपने उपदेश संस्कृत भाषा में न देकर जन (लोक) भाषा प्राकृत में दिये।

भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को अपनी-अपनी भाषा में 'धम्म' 'सीखने की आज्ञा दी थी' (चुल्लग ५/६१) जिससे प्राकृत जन भी शास्ता के उपदेशामृत का करुणामति से यथेच्छ पान कर सके, अतः महापुरुष बुद्ध की वाणी लोकभाषा थी। कहा भी है —

“प्राकृतैरति जनैर्मदीयोपदेशामृतं येथेच्छे समुपदिदेश महापुरुषः।
का नाम सा लौकिकी वाणी या भगवता तदर्थं सम्भाविता-मगधेषु
तदानीम् उपयुज्यमाना काचिद् भाषा। सा भाषा अपि मागधीत्ये-
वोच्यताम्।”— (पालि जातकावलि, पृ. ३)

दिल को छू लेने वाली अपनी बोलियों में इन महापुरुषों द्वारा

प्रदत्त धर्मोपदेश का प्रथम बार सुनना साधारण जनता पर अत्यधिक गहरा प्रभाव डाल गया। इस प्रकार इन दो धर्म-संस्थापकों का आश्रय पाकर प्रान्तीय बोलियाँ भी चमक उठी और संस्कृत से बराबरी का दावा करने लगीं। उधर वैदिक धर्मानुयायी और अधिक दृढ़ता से अपनी भाषा की रक्षा करने लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत एक वर्ग विशेष की भाषा मानी जाने लगी। जबकि मूलतः यह एक व्यापक भाषा है। कहा भी है — बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।

अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

— हरिभद्र, दशवै. वृत्ति, पृ. २०३

अर्थात् 'चारित्र के आकांक्षी बालक, स्त्री, मन्द, अज्ञानों और मनुष्यों के हितार्थ अपने सिद्धान्तों का प्राकृत में उपदेश दिया है'। स्पष्ट है कि जनबोली प्राकृत, संस्कृत की अपेक्षा बहुत सरल एवं बोधगम्य है, इसलिए जैन और बौद्धों ने इसे अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।

इन महापुरुषों की इस भाषायी क्रान्ति ने समाज के उस पिछड़े और उपेक्षित निम्न समझे जाने वाले व्यक्तियों के उन विभिन्न सभी वर्गों को भी आत्मकल्याण करके उच्च, श्रेष्ठ एवं संयमी जीवन जीने और समाज में सम्मानित स्थान प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया, जो समाज में हजारों वर्षों से दलित एवं उपेक्षित समझे जाने के कारण सम्मानित जीवन जीने और अमृतत्व प्राप्त करने की सोच भी नहीं सकते थे। राष्ट्रीय समाज कल्याण की अन्त्योदय और सर्वोदय जैसी कल्याणकारी भावनाओं का सूत्रपात भी ऐसे ही चिन्तन से हुआ।

पूर्वोक्त दोनों ही महापुरुषों ने अपने क्रान्तिकारी विचारों से सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों की विकृतियों को दूर करके धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्डों, मिथ्याधारणाओं के स्थान पर प्रत्येक प्राणी के लिए जीवनोत्कर्ष और आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। भाषा और सिद्धान्तों की दृष्टि से उनकी इस परम्परा को उनके अनुयायियों ने आगे भी समृद्ध रखा।

सम्राट अशोक ने भी प्राकृत को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया और अपनी सभी आज्ञाओं और धर्मलेख इसी प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिखवाए। प्राकृत भाषा को जनभाषा के साथ-साथ राजकाज की भाषा का भी गौरव प्राप्त हुआ और उसकी यह प्रतिष्ठा सैकड़ों वर्षों तक आगे बढ़ती रही। अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त देश के अन्य अनेक नरेशों ने भी प्राकृत में शिलालेख लिखवाये एवं मुद्राएँ अंकित करवाईं।

कलिंग नरेश महाराजा खारवेल द्वारा उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि-खण्डगिरि की हाथीगुम्फा में प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख भी काफी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें अपने देश “भरध-वस” (भारतवर्ष) के नाम का सर्वप्रथम प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त होता है।

महाकवि हाल ने अपनी गाथासप्तशती में तत्कालीन प्राकृत काव्यों से सात सौ गाथाएँ चुनकर प्राकृत को ग्रामीण जीवन, सौन्दर्य-चेतना एवं रसानुभूति की प्रतिनिधि सहज-सरस और सरल भाषा बना दिया। हिन्दी के महाकवि बिहारी जैसे अनेक प्रसिद्ध महाकवियों ने इन्हीं के अनुकरण पर अपने काव्यों की रचना की।

संस्कृत नाटककारों में भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति, हस्तिमल्ल जैसे अनेक संस्कृत नाटककारों ने भी अपने नाटकों में अधिकांश सम्वाद प्राकृत भाषा में लिखकर प्राकृत को बहुमान प्रदान किया है।

लोकभाषा से अध्यात्म, सदाचार और नैतिक मूल्यों की भाषा तक का विकास करते हुए यह प्राकृत भाषा कवियों को आकर्षित करने लगी थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्राकृत भाषा गाँवों की झोपड़ियों से राजमहलों की सभाओं तक आदर प्राप्त करने लगी थी। वह समाज में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम चुन ली गयी थी।

इस तरह प्राकृत भाषा ने देश की चिन्तनधारा — सदाचार, नैतिक मूल्य, लोकजीवन और काव्य जगत् को निरन्तर अनुप्राणित किया है। अतः यह प्राकृत भाषा भारतीय संस्कृति की संवाहक है। इस भाषा ने अपने को किसी घेरे में कैद नहीं किया। अपितु विशाल और पवित्र गंगा नदी के प्रवाह की तरह प्राकृत के पास जो था, उसे वह जन-जन तक बिखेरती हुई आप्लावित करती रही और जन-मानस में जो अच्छा लगा, उसे वह ग्रहण करती रही। इस प्रकार प्राकृत भाषा सर्वग्राह्य और सार्वभौमिक तो है ही, साथ ही भारतीय संस्कृति की अनमोल निधि और आत्मा भी है।

वर्तमान भाषाओं/लोक-भाषाओं का मूल-उद्गम

भाषावैज्ञानिकों का यह अभिमत है कि महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोंकणी; मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से बंगला, उड़िया तथा असमिया; मागधी अपभ्रंश से बिहारी, मैथिली, मगही और भोजपुरी; अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी — अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी; शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बांगरू, हिन्दी; नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाड़ी, जयपुरी, मारवाड़ी तथा गुजराती; पालि से सिंहेली और मालदीवन; टाक्की या ढाक्की से लहँडो या पश्चिमी पंजाबी; शौरसेनी प्रभावित टाक्की से पूर्वी पंजाबी; ब्राचड अपभ्रंश से सिन्धी भाषा (दरद); पैशाची अपभ्रंश से कश्मीरी भाषा का विकास हुआ है।

भाषाओं के सम्बन्ध में यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भाषा की स्थिति विभिन्न युगों में परिवर्तित होती रही है। भावों के संवहन के रूप में जनता का झुकाव जिस ओर रहा, भाषा का प्रवाह उसी रूप में ढलता गया।

यद्यपि पूर्वोक्त सभी क्षेत्रीय भाषाओं के रूप आज हमारे सामने नहीं हैं; किन्तु भाषावैज्ञानिकों की भाषा विषयक अवधारणाओं तथा मध्यकालीन एवं आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम को

ध्यान में रखकर इन सम्भावनाओं को झुठलाया भी नहीं जा सकता। वास्तविकता भी यही है कि भाषाओं के विकास की जड़ें आज भी लोक-बोलियों में गहराई तक जमी हुई लक्षित होती हैं। कभी-कभी हम यह अनुमान भी नहीं कर सकते हैं कि कतिपय शब्दों को जिन्हें हम केवल वैदिक साहित्य में प्रयुक्त पाते हैं। वे हमारी बोलियों में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री (अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ नामक पुस्तक के लेखक) का मानना है कि विभाषायें ही मध्यकाल में क्षेत्रीय भेदों के आधार पर अपभ्रंश बोलियों के रूप में प्रचलित रहीं। क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में आज हम जिन बोलियों को भाषा के रूप में विकसित देख रहे हैं, उनका जन्म आठवीं शताब्दी के लगभग अपने-अपने क्षेत्रों की अपभ्रंश बोलियों से हुआ था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि बोलियों का महत्त्व मदा बना ही रहा है।

इन प्राकृतों को जब व्याकरण के नियमों में बाँधा गया, तब पुनः जनभाषाओं के प्रवाह को रोकना न जा सका, जिससे अपभ्रंश भाषाओं का जन्म हुआ। कालान्तर में अपभ्रंशों को नियमबद्ध करने के प्रयत्न हुए, जिससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं उत्पन्न हुईं, जिनमें हिन्दी, बंगाली, उड़िया, असमियाँ, भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि सम्मिलित हैं। निश्चित ही इन भाषाओं से और भी अनेकानेक बोलियों/भाषाओं का विकास होता रहा है। यह सब अनुसंधान का आवश्यक विषय है।

जहाँ एक ओर लौकिक-संस्कृत नियमबद्ध होकर स्थिर हो गयी, वहीं दूसरी ओर प्राकृत विभिन्न क्षेत्रीय जनभाषाओं के सहयोग से विकसित हुईं और पालि, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची, चूलिका, अपभ्रंश आदि भौगोलिक नामों से साहित्यिक भाषायें बन गयीं।

संस्कृत और प्राकृत भाषा

यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि सम्पूर्ण भारत ही क्या पूरे विश्व में देवभाषा संस्कृत के प्रति जो सम्मान है और अपने देश के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में संस्कृत की जो अमिट छाप और जो महत्व है, वह मूल्यों की दृष्टि से आज और अधिक बढ़ गया है, उसे सभी स्वीकार करते हैं। शब्द सम्पदा आदि विविध रूपों में विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के लिए उसका जो व्यापक अवदान एवं प्रभाव है, वह भी किसी से छिपा नहीं है।

किन्तु क्षेत्र और काल विशेष के प्रभाव से यह निश्चित है कि संस्कृत भाषा एक होने पर भी वाल्मीकि की भाषा से कालिदास और उनकी भाषा से बाणभट्ट की भाषा-शैली शब्द चयन, संरचना में अन्तर है। इसी से प्रकट है कि भाषा में विकास होना ही उसका जीवन है। जब तक भाषा अपने जीवन-काल में रहती है और जितने अधिक समय तक रहती है, उसमें उतना अधिक परिवर्तन होता रहता है। यहाँ तक कि उसका परवर्ती रूप कभी-कभी अपने मूल से इतना अधिक विकसित हो जाता है कि सहसा वह पहचान में भी नहीं आता।

हमारे देश की दो प्राचीनतम भाषायें – संस्कृत और प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के विषय में डॉ. मोतीलाल ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (पृ. ४) में लिखा है कि – 'मध्य एशिया को छोड़कर जिस समय हमारे पूर्वज प्राचीन आर्य पंजाब में आकर बसे थे और उस समय की जो जनभाषा बोलते थे, उसके एक रूप से वैदिक-संस्कृत की भी उत्पत्ति हुई, इसी वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित रूप पीछे से संस्कृत (लौकिक संस्कृत) कहलाया और जनसाधारण की बोलचाल की भाषायें प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुईं'।

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अपने प्राकृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ (पृ. ८-९) में लिखा है— संस्कृत परिमार्जित और परिष्कृत

भाषा होने के कारण शिष्टजनों की भाषा बन गई थी। वह एक विशिष्ट वर्ग की भाषा थी जिसमें साहित्य की रचना होने लगी थी। वैदिक संस्कृत के लिये शिक्षा और व्याकरण की इसलिये आवश्यकता हुई कि आर्यों द्वारा पवित्र स्वीकार किये जाने वाले वेदों की ऋचाओं का सही ढंग से शुद्ध उच्चारण किया जा सके। प्राकृत जो आर्यों की बोलचाल की भाषा रही है, उनकी स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। प्राकृत भाषा की सामान्य प्रकृति सदा परिवर्तनशील रही है। भौगोलिक परिस्थितियों से यह प्रभावित होती गई है।

इस प्रकार वेदों से उपनिषदों की भाषा और उपनिषदों से महाकवि कालिदास, हर्ष आदि की भाषा में अन्तर परिलक्षित होता है। यह अन्तर किसी की भाषा में विकार और किसी की भाषा में विकास के नाम से जाना जाता है। यथार्थ में किसी भी भाषा का गतिहीन हो जाना अस्वाभाविक है और विकृत होते (बदलते) रहना उसके जीवित रहने का प्रमाण है।

संस्कृत का विकृत रूप नहीं है, जनभाषा प्राकृत

जैसे भाषा-विकास की विभिन्न अवस्थाओं को जानने के लिए संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी तरह वर्तमान की भारतीय भाषाओं में हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं के विकासक्रम को जानने के लिए प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं तथा इनके साहित्य का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। क्योंकि ये सब भाषायें प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं की सगी बेटियाँ हैं। प्राकृत भाषा के शिक्षण, अध्ययन एवं विकास से देश की विभिन्न भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार एवं भाषावैज्ञानिक अध्ययन को सुगमता एवं जीवन शक्ति प्राप्त होगी।

‘हिन्दी’ जिस भाषा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में इसका प्राचीनतम रूप प्राकृत है। आदिकाल

से ही प्राकृत की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमीं हुई हैं (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : पृष्ठ १४)। भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्राकृत, संस्कृत का विकृत रूप नहीं है।

आचार्य भरत मुनि (ईसा की तीसरी शताब्दी) के नाट्यशास्त्र (१७-१८) में जो मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाहलीका और दाक्षिणात्या – ये प्राकृत के सात भेद गिनाये गये हैं, वे इन भाषाओं की भौगोलिकता को ही सूचित करते हैं। मतलब यह है कि जो भाषा प्रकृति अर्थात् स्वभावसिद्ध हो और जनसामान्य द्वारा व्यवहार में लाई जाती हो, वह प्राकृत है, और संस्कारित कही जाने वाली संस्कृत से वह भिन्न है। पाणिनी ने वैदिक वाङ्मय को छान्दस और साधारण जनों की बोलचाल को “भाषा” नाम दिया है, इससे भी दोनों भाषाओं का पार्थक्य सिद्ध होता है।

प्राकृत की उत्पत्ति सम्बन्धी भ्रम निवारण

आश्चर्य है कि भाषा वैज्ञानिक तथा अन्यान्य प्रमाणों के बावजूद कुछ लोग आज भी यही समझते हैं कि संस्कृत का विकार या विकृत रूप प्राकृत है और प्राकृत का विकार अपभ्रंश भाषाएं हैं। किन्तु उनकी यह गलत अवधारणा है। सम्भवतः इस मिथ्या अवधारणा के पीछे प्राकृत वैयाकरणों, विशेषकर आचार्य हेमचन्द्र के कथन की यथार्थता न समझ पाने के कारण भी रहा होगा।

कुछ विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (सिद्धहेम-शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय) के “अथ प्राकृतम्” – इस प्रथम सूत्र और इसकी वृत्ति के आरम्भिक अंश “प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम् – का यह प्रमाण देकर बिना कुछ सोचे-समझे कह देते हैं कि संस्कृत से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई है। किन्तु यह भी उनका भ्रम मात्र है।

यहाँ आचार्य हेमचन्द्र पूर्वोक्त सूत्र की वृत्ति में आगे यह निर्देश कर रहे हैं कि.— “संस्कृतानन्तरं प्राकृतमाधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमानभेदसंस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम्। संस्कृतसमं तु संस्कृतलक्षणेनैव गतार्थम्। प्राकृते च प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गकारकसमाससंज्ञादयः संस्कृतवद् वेदितव्याः।

अर्थात् संस्कृत के अनन्तर प्राकृत का व्याकरण प्रारम्भ किया जाता है। सिद्ध और साध्यमान (ऐसे दो प्रकार के) शब्द होनेवाला संस्कृत जिसका मूल (= योनि) है — वह प्राकृत, ऐसा उस प्राकृत का लक्षण है और यह लक्षण देश्य का नहीं, इस बात का बोध करने के लिए ‘संस्कृत के अनन्तर प्राकृत का विवेचन’ — ऐसा कहा है, तथापि जो प्राकृत संस्कृत के समान है वह (वह पहले कहे हुए) संस्कृत के व्याकरण से ज्ञात हुआ है तथा प्राकृत में प्रकृति, प्रत्यय, लिंग, कारक, समास, संज्ञा इत्यादि संस्कृत के अनुसार होंगे — ऐसा जानें।

उपर्युक्त सूत्र की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि जो ‘प्रकृतिः संस्कृतम्’ कहा है— इसका अर्थ यही है कि अब तक हमने अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासन नामक व्याकरणग्रन्थ के सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का प्रतिपादन किया है और अब आगे अन्तिम अष्टम अध्याय में हम जो प्राकृत भाषा का व्याकरण समझायेंगे, वह अब तक बताये संस्कृत व्याकरण की प्रकृति के आधार पर ही समझायेंगे। अर्थात् संस्कृत शब्दों, क्रियाओं आदि के आधार पर प्राकृत रूपों की सिद्धि की जाएगी। अतः ‘प्रकृतिः संस्कृतम्’ — इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि प्राकृत की प्रकृति (उत्पत्ति) संस्कृत (से) है।

इसी तरह प्राकृत के प्रायः सभी वैयाकरणों ने ‘तत्’ शब्द से संस्कृत को लेकर ‘तद्भव’ शब्द का व्यवहार ‘संस्कृत-भव’ अर्थ इसलिए किया है कि उन्हें संस्कृत भाषा के आधार पर प्राकृत व्याकरण समझाना है। क्योंकि प्राकृत व्याकरण को संस्कृत के आधार पर ही समझाने की परम्परा है।

चूँकि प्राकृत की व्याकरण प्राकृत भाषा में नहीं अपितु संस्कृत भाषा में ही लिखे जाने की परम्परा रही है। इसीलिए प्राकृत के सभी वैयाकरणों में प्राकृत भाषा में न लिखकर संस्कृत भाषा में ही लिखे हैं और संस्कृत व्याकरण के आधार पर प्राकृत की व्याकरण भी समझाई है। यह सब संस्कृत और प्राकृत भाषाओं एवं इनके भाषा-भाषी जनों की अत्यन्त प्राचीन काल से ही परस्पर एक-दूसरे के प्रति निर्भरता, मैत्री जैसी अनेक सौहार्दपूर्ण भावनाओं का द्योतन करती हैं।

उदाहरण के लिये प्राकृत व्याकरणों में संस्कृत 'वृषभः' शब्द से प्राकृत वसहो या उसहो शब्द की सिद्धि की है। इसी तरह से कौमुदी से कोमुई, सौन्दर्य से सुन्देरं या सुंदरिअं की सिद्धि की गई है।

वस्तुतः समस्त प्राकृत भाषाओं में संस्कृत भाषा के अनेक शब्द उसी रूप में गृहीत हुए हैं। इन शब्दों को "तत्सम" कहते हैं। ये तत्सम शब्द यद्यपि प्रथम-स्तर की प्राकृत भाषाओं से ही संस्कृत में प्रचलित एवं संरक्षित हुए, तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि ये शब्द परवर्ती काल की प्राकृत भाषाओं में जो अपरिवर्तित रूप से व्यवहृत हुए हैं, वे संस्कृत साहित्य के प्रभाव के कारण ही।

इस तरह हमें किसी भी ग्रन्थकर्ता के पूरे कथन के आधार पर अर्थ निर्धारण करना चाहिये, न कि किसी एक वाक्य के आधार पर। अतः हमें पूर्वोक्त भ्रम का निवारण अवश्य कर लेना चाहिये, ताकि अर्थ का अनर्थ न हो सके।

इस प्रकार भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति नहीं माना जा सकता, हां, संस्कृत ने प्राकृत को प्रभावित अवश्य किया है। वस्तुतः जैसे-जैसे आर्य लोग पश्चिम से पूर्व और दक्षिण की ओर अग्रसर हुए, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उन्हें बहुसंख्यक बोलियों को आत्मसात् करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत बोलियों का विकास होता गया। ये बोलियाँ जनसामान्य द्वारा बोली जाने वाली भाषा पर

आधारित थीं। आगे चलकर जैसे-जैसे जनसाधारण ने व्याकरण के कठिन नियमों से नियंत्रित संस्कृत की दुरूहता का अनुभव किया, वैसे-वैसे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों की समन्वय स्वरूप प्राकृत बोलियाँ पहले तो महावीर और बुद्ध के जन-सामान्य-उद्बोधक धर्मोपदेश की महत्त्वपूर्ण कड़ियों के रूप में और तत्पश्चात् कालक्रम से सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में पुष्पित और पल्लवित होती गईं।

साहित्यिक प्राकृतों का आदर्श-स्तर

वस्तुतः भाषा शब्द का प्रयोग कालान्तर में साहित्यिक भाषा के लिए किया गया। साहित्यिक प्राकृतों का भी एक आदर्श स्तर रहा है, जिसके प्रमाण प्राचीन अभिलेखों में मिलते हैं। यद्यपि प्राचीन समय में प्राकृत जनभाषा के रूप में प्रचलित थी, जो सिन्ध से लेकर मध्यदेश तथा मगध तक बोली जाती थी, किन्तु समय-समय पर अन्य भाषाओं का प्रभाव भी इस पर अपना पानी चढ़ाता रहा।

प्रायः सभी प्राकृत भाषाओं में अत्यन्त उत्तम तथा उच्च कोटि का साहित्य निर्मित हुआ है। लोक में प्रचलित भाषा में निर्मित साहित्य नागरिकों तथा विद्वानों के लिए भले ही अरुचिकर तथा स्वारस्य रहित प्रतीत हो, पर लोक में वही सुरुचिपूर्ण और रमणीय होता है। किसी भी देश अथवा जाति की कुछ विशिष्ट रुचियाँ अथवा प्रवृत्तियाँ होती हैं इनके लिए किसी कारण विशेष का ज्ञान करना दुष्कर होता है।

वर्तमान अंग्रेजी भाषा में त, द, छ, झ, ज, ड, ढ, ढ, ण, ध्वनियाँ नहीं हैं, फिर भी प्रयोग तथा व्यवहार की दृष्टि से भाषा में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं में सर्वत्र न् ध्वनि के स्थान पर ण् का होना, ड् की ध्वनि का अभाव, ट् को ड् होना, आदि य का सर्वत्र ज् होना आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उस समय

की प्रवृत्ति तथा रुचि का निर्देश करती हैं और इनके अभाव में भी भाषा का मौन्दर्य विकृत नहीं होता।

प्राकृत भाषाओं के अम्युदय-काल में नयनम् को 'णअण' कहना, नगरम् को 'णअर', नदी को 'णई', निद्रा को 'णिद्दा' कहना ही मधुर तथा सरल प्रतीत होता था। यज्ञ का रूप 'जण्णो' प्रचलित था। युधिष्ठिर का 'जहिट्ठिलो' रूप इस समय अनभ्यास के कारण भले ही सुन्दर न प्रतीत हो पर प्राकृत भाषाओं में यही रूप मधुर तथा रुचि पूर्ण था।

इस प्रकार समय-समय पर प्रत्येक देश तथा काल में भाषाओं के रूप विधानों में इसी प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन, लोक रुचि को ही प्रकट करते हैं क्योंकि यदि लोक इनको स्वीकार न करे तो इनका प्रचलन ही नहीं हो सकता। तदनुसार इनका साहित्यिक स्तर भी विकसित होता रहा है और उन प्राकृतों का प्रभाव भी बढ़ता रहा। इसी आधार पर किसी कवि ने कहा भी है -

“अहो तत्प्राकृतं हारि प्रिया वक्त्रेन्दु सुन्दरम्।

सूक्तयो यत्न राजन्ते सुधा निष्यन्दनिर्झराः”

अर्थात् स्नेहमयी प्रियतमा के चन्द्र रूपी मुख के समान वह प्राकृत भाषा आकर्षक तथा मनोहर है, जिस प्राकृत भाषा में अमृत के प्रवाह के निर्झरों के समान सुन्दर सूक्तियां प्रकाशित रहती हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं में भी ललित एवं मधुर साहित्य की न्यूनता नहीं है। अतः इन भाषाओं का पठन-पाठन भी सहृदय भावुकों के लिये वांछित है।

वस्तुतः मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं का युग एक अत्यन्त समृद्ध युग है। इस युग में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में जितनी उन्नति हुई उतनी संभवतः अन्य किसी युग में नहीं हुई। इस सबमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं और इनके साहित्य का बहुमूल्य योगदान रहा है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैसे आज समाज में राष्ट्रभाषा हिन्दी एक प्रामाणिक भाषा है, किन्तु सम्पूर्ण भारत और सम्पूर्ण समाज में हिन्दी का ही प्रयोग नहीं होता, अपितु क्षेत्रीय एवं ग्रामीण भाषाओं (बोलियों) का भी प्रयोग साथ-साथ होता है। ठीक इसी प्रकार संस्कृत प्रामाणिक, साहित्यिक एवं सुशिक्षित तथा विद्वानों की भाषा थी, जबकि प्राकृत सामान्यतः ग्रामीणजन, नारी, बच्चों एवं समाज के सामान्यजनों की भाषा थी। परन्तु, दोनों ही भाषाओं का प्रयोग एक साथ समाज में चल रहा था। अतः किसी को किसी भाषा का पूर्ववर्ती या पश्चात्वर्ती कहना सम्यक् नहीं है। दोनों ही भाषाएं सहोदरा हैं, जो भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों द्वारा प्रयुक्त होती रही हैं।

महाभाषायें और विभाषायें

प्राकृत आगमों के उल्लेखानुसार तीर्थंकर महावीर के युग में (ई. पू. ६०० के लगभग) १८ महाभाषाएं और ७०० लघुभाषाएं (बोलियाँ) प्रचलित थीं। उनमें से जैन साहित्य में प्रादेशिक भेदों के आधार पर कुछ प्राकृत आगम ग्रन्थों तथा 'कुवलयमाला' आदि काव्य रचनाओं में अठारह प्रकार की प्राकृत बोलियों का उल्लेख मिलता है। इसमें विस्तार के साथ गोल्ल, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्णाटक, ताजि, कौशल, महाराष्ट्र प्रभृति अठारह देशी भाषाओं का विवरण दिया है।

'विविधा भाषा विभाषा' - इस व्युत्पत्ति के अनुसार सबसे अधिक विभाषाओं के ४२ प्रकारों का उल्लेख भरत कृत 'गीतालंकार' (नाट्यशास्त्र ३२, ४३१) में मिलता है, जिनमें से कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं - महाराष्ट्री, किराती, म्लेच्छी, सोमकी, कांची, मालवी, काशिसंभवा, देविका, कुशावर्ता, सूरसेनिका, बांधी, गुर्जरी, रोमकी, कानमूसी, देवकी, पंचपत्तना, सैन्धवी, कौशिकी, भद्रा, भद्रभोजिका, कुन्तला, कौशला, पारा, यावनी, कुर्कुरी, मध्यदेशी तथा काम्बोजी इत्यादि। इन सभी में गीत लिखे जाते थे।

प्राकृत गीतों की प्रयोग विधा है, विभाषायें

आचार्य भरत मुनि के समय में प्राकृत के गीत प्रशस्त माने जाते थे। उन्होंने ध्रुवा तथा गीतों का लोकनाट्य के प्रसंग में विविध विभाषाओं (बोलियों) का वर्णन किया है, जिनमें मागध गीतों को प्रथम स्थान दिया है। इन गीतों के विधान को देखकर और महाकवि कालिदास आदि की रचनाओं में प्रयुक्त गीतियों, मौखिक गीतों एवं महाकाव्यों में प्रयुक्त गीतों के अध्ययन से यह निश्चय हुए बिना नहीं रहता कि सिद्धों के गीतों की भांति इस देश का मूल प्राचीनतम साहित्य लोकगीतों में निबद्ध रहा होगा, जो लेखन के अभाव में संरक्षित नहीं रह सका।

उन स्वतन्त्र बोलियों की स्वतंत्र पहचान करने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। न ही भगवान महावीर और न गौतमबुद्ध के उपदेशों की लोकबालियाँ ज्यों की त्यों उपलब्ध होती हैं। परन्तु इसके अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। चूँकि वेदों की संस्कृत और प्राकृत दोनों का मूल स्रोत एक ही रहा है। हम देख सकते हैं कि आर्य-भाषाओं में सघोष ध्वनियों के एक नियम के अन्तर्गत ख, घ, ध, भ ध्वनियों का प्राकृत में 'ह' हो जाता है। अतः संस्कृत में 'भ' के स्थान पर 'ह' होने की प्रवृत्ति मूलतः प्राकृत है; जैसे कि — जग्राह, हरति।

यह सुनिश्चित है कि वेदों की रचना किसी एक समय में एक स्थान पर नहीं हुई। वैदिक साहित्य की रचना लगभग एक सहस्राब्दि में क्रमशः काबुल से लेकर तिरहुत तक कई केन्द्रों पर हुई थी। 'ऋग्वेद' का सबसे प्राचीन भाग 'गोत्र मण्डल' (ऋग्वेद, मण्डल २-७) कहा जाता है, लेकिन प्रयत्नों के लिए जाने पर भी ध्वनियों के मूल शब्दोच्चार आज सुरक्षित नहीं है। भले ही प्राचीन बोलियों के भाषिक रूप आज उपलब्ध न होते हों और न उन बोलियों को जानने के हमारे पास साधन हों, फिर भी कितने आश्चर्य की बात है कि संस्कृत के वैयाकरण और आधुनिक भाषाशास्त्री एक स्वर से यह कह रहे हैं कि भाषा-विकास की प्रक्रिया अनादि तथा अविच्छिन्न है।

प्राकृत भाषाओं के भेद-प्रभेद

लोकभाषा भरतमुनि (नाट्य शास्त्र १७, २६ एवं ४८) के समय ईसा की तीसरी शताब्दी में स्वतन्त्र भाषा के रूप में परिणत हो चुकी थी। लोकभाषा प्रादेशिक भिन्नताओं के कारण किंचित् भिन्न रूपों में भी प्रयुक्त होती थी जिसे देशभाषा भी कहा जाता था। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत में सन्धि के नियम शिथिल हैं, किन्तु संस्कृत में शिथिल नहीं हैं। स्वर-परिवर्तन के विविध रूप तथा भक्तिस्वरयोग भी संस्कृत में प्रचुरता से लक्षित होता है।

प्राकृत की सामान्य प्रकृति ओकारान्त है जो अवेस्ता में भी दिखलाई पड़ती है। वेदकालीन जनबोलियों से लेकर ब्रज और बुन्देली तक लोकभाषाओं में स्पष्ट रूप से ओकारान्त प्रवृत्ति लक्षित होती है। अतः इनमें कोई सन्देह नहीं है कि भाषाशास्त्रियों के अनुसार वेदों के रचना-काल में और उससे पूर्व भी एक प्रवाह के रूप में जनबोली या बोलियों को 'प्राकृत' कहा जाता रहा है।

आचार्य नरेन्द्रनाथ ने 'प्राकृत भाषाओं का रूपदर्शन' नामक पुस्तक की विस्तृत भूमिका में लिखा है कि प्राकृत प्रकाश के कर्ता आचार्य वररुचि ने, जिनका दूसरा नाम कात्यायन भी था, प्राकृत भाषाओं का "प्राकृत प्रकाश" नामक प्रामाणिक व्याकरण लिखा। वररुची ने इन प्राकृत भाषाओं के चार भेद माने हैं - १. प्राकृत (महाराष्ट्री), २. मागधी, ३. शौरसेनी और ४. पैशाची। यहां प्राकृत से तात्पर्य वह भाषा जो शूरसेन, मगध तथा पिशाच प्रान्त को छोड़कर सामान्य रूप से सम्पूर्ण देश में बोली जाता थी। इस सामान्य प्राकृत को महाराष्ट्री या महाराष्ट्री प्राकृत भी कहते हैं। महाकवि दण्डी को काव्यादर्श में कहा भी है - 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः'।

मार्कण्डेय के अनुसार भाषाओं के भेद-प्रभेद

प्राकृत सर्वस्वकार मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में भाषाओं के तथा उनके अवान्तर भेदों के ४३ भेद स्वीकृत किए हैं। प्रथम भाषाओं के चार भेद हैं - १. भाषा, २. विभाषा, ३. अपभ्रंश, ४. पैशाची। इनमें प्रत्येक के उपभेद इस प्रकार हैं -

१. भाषा के पांच भेद - १. महाराष्ट्री, २. शौरसेनी, ३. प्राच्या, ४. अवन्ती, ५. मागधी। अर्धमागधी को मागधी के अन्दर ही परिगणित किया गया है।

२. विभाषा के भी पांच भेद - १. शाकारी, चाण्डाली, ३. शावरी, ४. आभारिकी, ५. शाक्वी (शारवी)।

३. अपभ्रंश के २७ भेद - अपभ्रंश के जिन २७ भेदों के नाम आगे दिये गये हैं, इनमें आद्री तथा द्राविडी नहीं हैं, पर इसके साथ अपभ्रंश के - १. नागर, २. ब्राचड़, ३. उपनागर - ये तीन भेद और हैं। इस प्रकार अपभ्रंश के ३० भेद हैं।

४. पैशाची के तीन भेद - १. कैकेयी, २. शौरसेनी, ३. पांचाली।

इस प्रकार भाषा के ५, विभाषा के ५, अपभ्रंश के ३०, और पैशाची के ३ कुल मिलाकर ४३ भेद माने हैं।

रुद्रट के अनुसार - रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भाषाओं का वर्गीकरण - १. प्राकृत, २. संस्कृत तथा ३. अपभ्रंश - इन तीन रूपों में किया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश की पृथक् सत्ता स्वीकृत की है।

दण्डी के अनुसार - दण्डी ने काव्यादर्श में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ ही भाषाओं का एक 'मिश्र' भेद और स्वीकृत किया है। और इन्हीं चार भाषाओं में रचित ग्रन्थ पाये जाते हैं। यथा -

‘तदेतद्वाङ्मयं भूयस्संस्कृत प्राकृतं तथा।

अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधः॥’

पुराण वाग्भट्ट ने अपने वाग्भट्टालंकार में 'भूत-भाषित' नाम से एक-और भाषा स्वीकृत की है अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूत-भाषित — ये चार भाषाएं स्वीकृत की हैं। विद्वानों ने भूत-भाषित से उनका तात्पर्य पैशाची भाषा से ही लिया है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत भाषा के भेद —

इन्होंने प्राकृत भाषाओं का विस्तृत विवेचन अपने 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ के अन्तिम अष्टम अध्याय में किया है। उनके मत से प्राकृतों के — १. प्राकृत, २. पैशाची, ३. चूलिका पैशाची, ४. मागधी, ५. आर्षी, ६. शौरसेनी, ७. अपभ्रंश — ये सात भेद हैं। यह आर्ष प्राकृत ही अर्धमागधी है, जो जैन आगमों की भाषा है।

अन्य प्राकृत भाषायें

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की द्वितीय शताब्दी तक प्राकृत में रचे गये साहित्य की भाषा को आदि युग अथवा प्रथम युग की प्राकृत कहा जा सकता है।

इस प्रथम युगीन प्राकृत के प्रमुख पाँच रूप प्राप्त होते हैं — १. आर्ष प्राकृत, २. शिलालेखी प्राकृत, ३. निया प्राकृत, ४. प्राकृत धम्मपद की भाषा और, ५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत।

१. आर्षप्राकृत — भगवान् महावीर और बुद्ध के उपदेशों की भाषा क्रमशः अर्धमागधी (प्राकृत) और मागधी (पालि) के नाम से जानी गयी हैं। इन भाषाओं को आर्ष प्राकृत कहना उचित है, क्योंकि धार्मिक प्रचार के लिए सर्वप्रथम इन भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

२. शिलालेखी प्राकृत — आर्ष प्राकृत के बाद शिलालेखों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह लिखित रूप में प्राकृत का सबसे पुराना साहित्य है। अशोक के शिलालेखों में इनके रूप सुरक्षित हैं। शिलालेखी प्राकृत का काल ईसा पूर्व ३०० से ४०० ईस्वी तक है।

इन सात सौ वर्षों के लम्बे कालखण्ड में में लगभग दो हजार शिलालेख प्राकृत में लिखे गये हैं।

प्रथम युग की इस प्राकृत का सबसे प्राचीन लिखित रूप शिलालेखी प्राकृत में मिलता है। इसके प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। इसमें अशोक के शताधिक शिलालेख, उदयगिरि-खण्डगिरि (भुवनेश्वर, उड़ीसा) के हाथी गुम्फा आदि शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओं के शिलालेख साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्राकृत भाषा के कई रूप इसमें उपलब्ध हैं। भारत के नाम का शिलालेखीय सर्वप्राचीन उल्लेख भरधवस (भारतवर्ष) हाथी गुम्फा के इसी अभिलेख की १०वीं पंक्ति में मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अभिलेख अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार प्राकृत के विकसित रूप इन शिलालेखों में पाये जाते हैं। नाटकीय प्राकृतों के रूप में भी इन शिलालेखों की भाषा समाविष्ट हैं। मूलतः इनमें पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं। पश्चिमोत्तरी शिलालेख पैशाची का स्वरूप उपस्थित करते हैं, पूर्वी मागधी का और दक्षिण पश्चिमी शौरसेनी का भी। शिलालेखों के अतिरिक्त सिक्कों पर भी प्राकृत के लेख उपलब्ध हैं।

शिलालेखी प्राकृत का उदाहरण

सम्राट खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख के आरम्भिक अंश -

१. नमो अरहंतानं (।*) नमो सब-सिधानं (।।*) ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेति-राज-व [वं] स-वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन चतुरंतलुठ [ण]-गुण-उपितेन कलिंगाधिपतिना सिरि-खारवेलेन
२. [पं]दरस-वसानि सीरि-[कडार]-सरीर-वता कीडिता कुमार-कीडिका (।।*) ततो लेख-रूप-गणना-क्वहार-विधि-

विसारदेन सब-विजावदातेन नव-वसानि-योवरज [प] सासितं
(॥*) संपुणं-चतुवीसति-वसो तदानि वधमानसेसयो-
वेनाभिविजयो ततिये

३. कलिंग-राज-वसे(स)-पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति
(॥*) अभिसितमतो च पथमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-
निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरि खिबी [रं](॥*) सितल-
तडाग-पाडियो च बंधापयति सवूयान-प [टि]संथपनं च
४. कारयति पनसि(ति)साहि सत-सहसेहि पकतियो च रंजयति
(॥*) दुतिये च वसे अचितयिता सातकनिं पछिम-दिसं
हय-गज-नर-रथ-बहुलं दंडं पठापयति (॥*) कन्हबेणां-गताय
च सेनाय वितासिति असिकनगरं (॥*) ततिये पुन वसे..।

हिन्दी अनुवाद

१. अर्हतों को नमस्कार। सभी सिद्धों को नमस्कार। ऐर (आर्य) महाराज
महामेघवाहन, चेदि राजवंश की वृद्धि करनेवाले, प्रशस्त शुभ
लक्षणों से युक्त, सकल भुव (चतुरन्त) में व्याप्त गुणों से अलंकृत,
कलिंगाधिपति, श्री से युक्त, पिंगल शरीर-वाले, श्री खारवेल -
२. पन्द्रह वर्ष (की आयु) तक राजकुमारों के उपयुक्त क्रीड़ा करते
रहे। पश्चात् उन्होंने लेख, रूप, गणित, व्यवहार-विधि (कानून की
शिक्षा) में दक्षता प्राप्त की। तदनन्तर सर्व-विद्या में पारंगत होकर
नौ वर्ष तक (उन्होंने) युवराज के रूप में प्रशासन किया। सम्पूर्ण
चौबीस वर्ष पूर्ण कर वे -
३. कलिंग-राजवंश के तृतीय पुरुष, महाराज के रूप में अभिषेक
कराते हैं (राजा कहलाते हैं) ताकि अपने शेष यौवन को विजयों
द्वारा समृद्ध करते रहें। अभिषिक्त (राजा) होने के बाद प्रथम वर्ष
में वे तूफान से नष्ट कलिंगनगरी खिबिर के गोपुरों, प्राकारों,

मकानों आदि की मरम्मत (प्रतिसंस्कार) कराते हैं; शीतल जलवाले तालाब के बाँध को सुदृढ़ कराते हैं; सभी बगीचों को नये ढंग से सँवरवाते हैं।

४. इसमें वे ३५ लाख (मुद्रा) व्यय करते हैं। (इस प्रकार वे) प्रकृति (प्रजा) का रंजन करते हैं। और दूसरे वर्ष सातकर्णिकी परवाह न कर (वे) अश्व, गज, नर, रथ, बहुल सेना-दल पश्चिम दिशा में भेजते हैं। सेना कृष्णावेणा (नदी) के तट तक पहुँचकर ऋषिकनगर में आतंक उत्पन्न करती है। फिर तीसरे वर्ष (गन्धर्व विद्या में पारंगत खारवेल नगर निवासियों का मनोरंजन कराते हैं।)

३. निया प्राकृत

निया प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखों की भाषा 'निया प्राकृत' कहा गया है। इस प्राकृत का तोखारी भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश (पेशावर के आस-पास) की मानी जाती है।

४. धम्मपद की प्राकृत

पालि धम्मपद की तरह प्राकृत में लिखा गया एक धम्मपद भी मिला है। इसकी लिपि खरोष्ठी है। इसकी प्राकृत भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियों से सम्बन्ध रखती है। इस दृष्टि से उत्तर-पश्चिमी बोली के प्राचीन रूप को समझने की दृष्टि से प्राकृत धम्मपद का काफी महत्त्व है।

प्राकृत धम्मपद की गाथाओं के उदाहरण

गम्पिर-पुज मेधवि, मर्गमर्गस को'इ'अ।

उतमु प्रवर विर, तं अहु बोम्मि ब्रमण॥ ब्र० वग्ग ४९॥

— जिसकी प्रज्ञा गंभीर है, जो मेधावी है, जो मार्ग-अमार्ग को जानता है, जिसने परमार्थ को प्राप्त कर लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहती हूँ।

उदिठ न प्रमजे'अ, धमु सुचरिद चरि।

धम-चरि सुहु शै'अदि, अस्वि लोकि परम यि॥

— अप्रमदुवग्ग ११०॥

— उठो, प्रमाद मत करो। धर्म का आचरण करो। धर्म का आचरण करने वाला इहलोक और परलोक में सुख-शान्ति से रहता है।

अरोग परम लभ, सदुठि परम धण।

विश्वपश परम मित्र, निवण परमो सुह॥ सुह वग्ग १६२॥

आरोग्य परम लाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास परम मित्र है और निर्वाण परम सुख है।

५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

प्रथम युग की प्राकृतों में अश्वघोष के नाटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्राकृत भाषा के विकास की परम्परा इन नाटकों की भाषा में सुरक्षित है। विभिन्न पात्रों द्वारा सम्वादों के रूप में मागधी, शौरसेनी और अर्धमागधी इन तीनों भाषाओं का सफल प्रयोग यहां देखने को मिलता है। विभिन्न प्राचीन शिलालेखों में भी अश्वघोष की भाषा के संकेत देखे जा सकते हैं। अश्वघोष के शारद्वतीपुत्र प्रकरण में प्रयुक्त प्राकृत जैनसूत्रों की प्राकृत से भिन्न है, जो इस भाषा के विकास को सूचित करती है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत

प्रथमयुगीन प्राकृत भाषा प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न रूप धारण कर चुकी थी। वस्तुतः प्राकृत भाषा के विकास का क्रम इन नाटकों की भाषा में सुरक्षित है। क्योंकि प्रयोग की दृष्टि से मागधी, शौरसेनी और अर्धमागधी — इन तीनों भाषाओं का संगम इनमें देखने को मिलता है।

क) नाटकों में प्राकृतों के प्रयोग का शास्त्रीय विधान

प्राकृत भाषाओं का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होता है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र (१७.३१.४३) में धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक, राजपत्नी, गणिका और श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि के लिए संस्कृत भाषा बोलने, तथा श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, चक्रधर, भागवत, तापस, उन्मत्त, बाल, नीच ग्रहों से पीड़ित व्यक्ति, स्त्री, नीच जाहत और नपुंसकों के लिए प्राकृत बोलने का निर्देश किया है। यहां भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भी अलग-अलग प्राकृत भाषाओं को बोलने का भी निर्देश किया है।

ख) पात्रानुसार विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग-विधान

नाट्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए शौरसेनी, महाराष्ट्री, पेशाची आदि भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाएँ बोले जाने का उल्लेख इस प्रकार है – नायिका और उसकी सखियों द्वारा शौरसेनी, विदूषक आदि द्वारा प्राच्या, पूर्वी शौरसेनी धूर्तो द्वारा अवन्तिजा (उज्जैनी में बोली जानी वाली शौरसेनी), चेट, राजपूत और श्रेष्ठियों द्वारा अर्धमागधी, राजा के अन्तःपुर रहने वालों, सुरंग खोदने वालों, सेंध लगाने वालों, नगर रक्षक आदि और जुआरियों द्वारा दाक्षिणात्या तथा उदीच्य और खसों द्वारा बाहलीक भाषा अपने सम्वादों में बोलने का विधान है। (१७.५०-२)

इसी प्रकार विभाषाओं में शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविड़ी और आन्धी के नाम गिनाये हैं। इनमें पुलकस (डोम्ब) द्वारा चाण्डाली, अंगारकारक (कोयल तैयार करने वाले)? व्याध, काष्ठ और मन्त्र से आजीविका चलाने वालों और वनचरों द्वारा शाकारी भाषा बोली जाती थी। गज, अश्व, अजा, ऊष्ट्र आदि की शालाओं में रहने वालों द्वारा आभीरी अथवा शाबरी, तथा वनचरों द्वारा द्राविड़ी भाषा बोली जाती थी। (नाट्यशास्त्र १७.५३-६)

डॉ. जगदीश चन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक — प्राकृत साहित्य का इतिहास (पृ. ६१२-६१३) में लिखा है कि — संस्कृत नाटकों का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन नाटकों में उच्चवर्ग के पुरुष, अग्रमहिषियाँ, राजमन्त्रियों की पुत्रियाँ आदि संस्कृत तथा साधारणतया स्त्रियाँ, विदूषक, श्रेष्ठी, नौकर-चाकर आदि निम्नवर्ग के लोग प्राकृत में बातचीत करते हैं।

नाट्यशास्त्र के पण्डितों ने जो पूर्वोक्त रूपक और उपरूपक के भेद गिनाये हैं, उनमें भाण, डिम, वीथी तथा सट्टक, त्रोटक, गोष्ठी, हल्लीश, रासक, भाणिका, और प्रेंखण आदि मुख्यतः लोकनाट्य के ही प्रकार हैं। इन नाट्यों में धूर्त, विट, पाखण्डी, चेट, चेटी, नपुंसक, भूत, प्रेत, पिशाच, विदूषक हीनपुरुष आदि अधिकांश पात्र वहीं हैं, जो नाटकों में प्राकृत भाषाएँ बोलते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि प्राकृत सामान्यतः सम्पूर्ण जनसाधारण की तथा संस्कृत पण्डित, पुरोहित और राजाओं की भाषा मानी जाती थी।

स्त्रियाँ प्रायः शौरसेनी प्राकृत में ही बात करती हैं। संस्कृत उनके मुँह से अच्छी नहीं लगती। महाकवि शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् प्रकरण (नाटक) में विदूषक कहता है कि — ‘दो वस्तुयें हास्य की सृष्टि करती हैं — प्रथम वस्तु है — ‘स्त्री के द्वारा संस्कृत भाषा का प्रयोग’ और दूसरी वस्तु है — ‘पुरुष द्वारा धीमे स्वर में गायन’। सूत्रधार यद्यपि संस्कृत में सम्वाद बोलता है, पर ज्यों ही वह स्त्रियों को सम्बोधित करता है, तब वह प्राकृत भाषा का प्रयोग करने लगता है। नाटकों में अधिकांश पात्र शौरसेनी में बोलते थे तथा अत्यन्त पिछड़े-उपेक्षित जन पैशाची और मागधी प्राकृत में।

तात्पर्य यह है कि निम्न पात्र अपने-अपने देश की प्राकृत भाषाओं में बातचीत करते थे और संस्कृत नाटकों को लोकप्रिय बनाने के लिए भिन्न-भिन्न पात्रों के मुख से उन्हीं की जन-बोलियों में बातचीत कराना औचित्यपूर्ण भी था।

इसीलिए महाकवि भास, कालिदास, भवभूति, हस्तिमल्ल जैसे अनेक उत्कृष्ट संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटकों में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों से उनकी पात्रता के आधार पर विविध प्राकृत सम्वादों को बड़ी ही सहजता और सम्मान के साथ प्रस्तुत किया। जहाँ महाकवि हस्तिमल्ल के नाटकों में विशेषकर 'विक्रान्त कौरवम्' नाटक में प्राकृत के जितने बड़े-बड़े सम्वाद हैं, वहीं महाकवि शूद्रक के मृच्छकटिकम् नाटक में तो विभिन्न प्राकृतभाषी पात्रों की बहुलता का उत्कृष्ट सामंजस्य है।

ग) मृच्छकटिकं नाटक में प्राकृतों का प्रयोग-वैशिष्ट्य

इस नाटक की लोकप्रियता और श्रेष्ठता का रहस्य भी यही है। जितनी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग यहां देखने को मिलता है उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं। इसमें संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी — इन चार प्राकृतों शाकारी, चाण्डाली और ढक्की — इन तीन अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

प्राकृत भाषाओं की प्रयोग की दृष्टि से इसमें सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, इसकी वृद्धा मां, नटी, धूता, कर्णपूरक, शोधनक और श्रेष्ठी — ये ग्यारह पात्र शौरसेनी बोलते हैं। वीरक और चन्दनक अवन्तिका बोलते हैं। विदूषक प्राच्या बोलता है। संवाहक (भिक्षु), तीनों चेट (स्थावरक, कुम्भीलक और वर्धमानक) तथा चारुदत्त का पुत्र रोहसेन — ये पाँच पात्र मागधी बोलते हैं। शाकारी अपभ्रंश का प्रयोग 'शाकार' नामक पात्र ने तथा दशम अंक के दोनों चाण्डाल पात्र चाण्डाली भाषा एवं द्यूतकर और सभिक माथुर — ये दो पात्र ढक्की विभाषा (वनेचरों की भाषा) का प्रयोग करते हैं।

पूर्वोक्त भाषाओं में शाकारी और चाण्डाली — ये अपभ्रंश भाषायें मागधी प्राकृत की विभाषायें तथा अवन्तिका और प्राच्या — ये दो शौरसेनी की विभाषायें प्रतीत होती हैं।

घ) नाटकों में प्राच्या और आवन्ती प्राकृत भाषायें

प्राच्या और आवन्ती इन भाषाओं का प्रयोग नाटकों में दिखलाई देता है, मुख्यतः मृच्छकटिक नाटक में। इस सम्बन्ध में डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास (पृ. ३२) में लिखा है कि नाट्यशास्त्र (१७५१) में विदूषक आदि की भाषा को प्राच्या कहा गया है। यहाँ नायिका और उसकी सखियों द्वारा शौरसेनी बोले जाने का उल्लेख है। किन्तु नाटकों में प्रयुक्त इन दोनों प्राकृतों के अध्ययन से पता लगता है कि इन पात्रों की भाषा में कोई वास्तविक अन्तर नहीं, केवल कुछ वाक्यों और शब्दों के प्रयोग ही भिन्न हैं। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व (१०.१) में शौरसेनी से ही प्राच्या का उद्भव बताया है। (प्राच्यासिद्धिः शौरसेन्याः)। उन्होंने अपने प्राकृतसर्वस्व के दसवें पाद में प्राच्या के जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनमें और नाटकों में प्रयुक्त विदूषक द्वारा बोली जाने वाली शौरसेनी में कुछ खास अन्तर नहीं है। अतः प्राच्या बोली को पूर्वीय शौरसेनी का ही रूप समझना चाहिये।

पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन (११.१) का अनुकरण करते हुए मार्कण्डेय ने भी प्राकृतसर्वस्व (११.१) में आवन्ती को महाराष्ट्री और शौरसेनी के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था (आवन्ती स्यान् महाराष्ट्रीशौरसेन्योस्तु संकरात्) बताया है।

ङ) नायिकाओं आदि अनेक पात्रों की प्रिय-भाषा

कविकुलगुरु कालिदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की ऋषिकन्या शकुन्तला, नाटककार भास की राजकुमारी वासवदत्ता, शूद्रक कवि विरचित मृच्छकटिकम् की नगरवधू वसन्तसेना, भवभूति विरचित उत्तररामचरितम् की महासती सीता, जैन महाकवि हस्तिमल्ल विरचित 'विक्रान्त कौरवम्' नाटक की राजकुमारी सुलोचना तथा अन्य तपस्विनी नारियाँ, राजा के मित्र, कर्मचारी तथा अन्य प्रायः

सभी उपपात्रों से लेकर नाटकों के प्रायः अधिकांश पात्र प्राकृत भाषाओं का प्रयोग सम्वादों के माध्यम से अपने विचारों और भावों को अभिव्यक्त करने में करते हैं। इन नाटकों के दर्शक इस स्वाभाविक अपनी भाषा को सुनकर आनन्द विभोर होते थे।

च) संस्कृत नाटकों में प्राकृत सम्वादों की अधिकता

प्राकृत भाषा समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत थी। वह लोगों के सामान्य जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करती थी। इतना ही नहीं अपितु संस्कृत नाट्य साहित्य की अनमोल कृतियों के रूप में प्रसिद्ध इन संस्कृत नाटकों को यदि प्राकृत नाटक कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि इनमें संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषा का ही अधिक (लगभग साठ-पैंसठ प्रतिशत) प्रयोग सम्वादों के रूप में हुआ है।

स्थिति यह है कि महाकवि भास, कालिदास, भवभूति, हस्तिमल्ल आदि के उपलब्ध नाटक यद्यपि अनेक कारणों से संस्कृत नाटक के रूप में लोकप्रिय अवश्य हैं; किन्तु इनमें भी प्राकृत भाषा और इसके बोलने वाले पात्रों की ही बहुलता है।

लोकप्रियता के कारण सभी प्राचीन संस्कृत नाटककारों ने प्राकृत बोलने वाले पात्रों को प्रमुख स्थान दिया। प्राकृत भाषा के प्रति बढ़ते हुए इस जनाकर्षण के कारण भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए नाट्य लेखन में यथोचित पात्रों के द्वारा विभिन्न प्राकृत भाषाओं के सम्वादों की अनिवार्यता का विधान किया। अतः इन नाटकों में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं के सम्वादों की अधिकता होना स्वाभाविक है। क्योंकि प्रायः शिक्षित पात्र (स्त्री पात्र को छोड़कर) संस्कृत बोलते हैं जो कम ही होते हैं। अशिक्षित सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं, जिनकी संख्या काफी अधिक होती है।

छ) संस्कृत नाटकों में प्राकृत सम्वादों की उपेक्षा क्यों ?

यह चिन्ता का विषय है कि नाट्य सिद्धान्तों के विपरीत प्राकृत के संवादों को संस्कृतच्छाया के आधार पर अध्ययन-अध्यापन करने की गलत परम्परा प्रचलित हो जाने के कारण एवं कहीं-कहीं प्राकृत संवादों को समाप्त करके उनके स्थान पर संस्कृतच्छाया मात्र रख देने से उन प्राकृत भाषाओं की घोर उपेक्षा हो रही है, जो कभी जनभाषाओं के रूप में गौरव के साथ लोकप्रिय रहकर सम्पूर्ण देश को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधे हुए थीं। अतः इस क्षेत्र के सभी विद्वानों को इस बहुमूल्य प्राचीन विरासत के संरक्षण हेतु मिलजुल कर प्रयास करना आवश्यक है।

सट्टकः प्राकृत नाटकों की एक विशिष्ट विधा

मूलतः काव्य के श्रव्य और दृश्य — ये दो भेद होते हैं। इनमें श्रव्य काव्य तो सुनने-पढ़ने के लिए होता है। जबकि दृश्य काव्य रंगमंच की वस्तु है। जिन काव्यों का रंगमंच पर अभिनय किया जा सकता है, वे दृश्य काव्य कहलाते हैं। दृश्य काव्य के दो भेद हैं — रूपक और उपरूपक (साहित्य दर्पण ६/१-६)।

१. रूपक के दस भेद हैं — नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। २. उपरूपक के अट्टारह भेद हैं — नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, पेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भणिका।

क) सट्टक की विशेषतायें

सट्टक की विशेषतायें पूर्वोक्त उपरूपकों में सट्टक एक प्रमुख और विशिष्ट नाट्य विधा है। अभिनवगुप्त (१०वीं शती) ने सट्टक को

नायिका के समान प्रतिपादित किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन एवं विश्वनाथ में अपने साहित्य दर्पण में सट्टक को पूर्णतः एक ही भाषा प्राकृत में रचित माना है। कुछ विद्वानों ने सट्टक एक भाषा में रचित जरूर माना है किन्तु वह भाषा प्राकृत एवं संस्कृत हो सकती है।

राजशेखर ने कर्पूरमंजरी (१-६) में सट्टक को 'नाटिका' के समान बताया है, जिसमें प्रवेशक, विष्कम्भक और अंक नहीं होते। अंक के स्थान पर 'जवनिका' कहा है। इसमें कम से कम चार जवनिकायें होती हैं। सट्टक का नामकरण नायिका के नाम पर ही होता है, जिसे पाउडबन्ध (प्राकृतबन्ध) कहा जाता है। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता होती है। इसकी नायिका गंभीरा और मानिनी होती है। इसका नायक धीरललित होता है।

सट्टक लोकनृत्य से समुत्पन्न होता है। द्राविड भाषा में अट्ट या आट्ट शब्द मूलधातुरूप अट्ट या आट्ट है, जिसका अर्थ है नृत्य, अभिनय या हावभाव प्रदर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

ख) उपलब्ध प्रमुख सट्टक

महाकवि राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी, कवि रुद्रदास कृत चन्दलेहा, कवि घनश्याम कृत आनन्दसुन्दरी, नयचन्द्रकृत रम्भा मंजरी, विश्वेश्वर कृत शृंगार मंजरी — ये सट्टक पूर्णतः प्राकृत भाषा में लिखित उपलब्ध होते हैं। साहित्य दर्पणकार ने विलासवती नामक सट्टक का भी उल्लेख किया है, किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। इन सट्टकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सभी प्रकार की प्राकृतों का ही प्रयोग किया गया है अन्य किसी प्राकृतेतर भाषाओं का नहीं।

प्राकृत के प्रमुख व्याकरण शास्त्र

१. प्राकृत लक्षण — प्राकृत व्याकरण का यह सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चण्ड (द्वितीय शताब्दी) ने इसकी रचना की है।

२. प्राकृत प्रकाश — इसके रचयिता आचार्य वररुचि (ई. की दूसरी-तीसरी शताब्दी) हैं। बारह परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ में ५०९ सूत्र हैं।

प्राकृत प्रकाश पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। पहली भामह कृत मनोरमा टीका, दूसरी कात्यायन कृत प्राकृत-मंजरी टीका, तृतीय बसंतराज (१४वीं शती) कृत प्राकृत संजीवनी टीका, चतुर्थ सदानन्द (१७वीं शती) कृत प्राकृत सुबोधिनी टीका तथा पंचम नारायण विद्या विनोद कृत प्राकृत वाद टीका।

३. प्राकृत शब्दानुशासन — बंगाल निवासी पुरुषोत्तम देव (१२वीं शताब्दी) कृत प्राकृत शब्दानुशासन २० अध्यायों में विभक्त है। इसमें अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण प्रस्तुत किया गया है।

४. सिद्धहेमशब्दानुशासन — कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) कृत संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के इस व्याकरण ग्रन्थ की बहुत प्रसिद्धि है। इसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा की विस्तृत व्याकरण तथा अंतिम आठवें अध्याय के चार पादों में प्राकृत भाषा की विस्तृत व्याकरण प्रस्तुत की गई है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ है।

५. प्राकृत शब्दानुशासन — १३वीं शताब्दी के आचार्य त्रिविक्रम कृत यह प्राकृत व्याकरण स्वोपज्ञ वृत्ति सहित है। तीन अध्यायों एवं १२ पादों से युक्त इस ग्रन्थ १०३६ सूत्र हैं। त्रिविक्रम ने इसके प्रत्येक अध्याय में अनेकार्थक शब्द भी दिये हैं।

६. प्राकृत कामधेनुका — १०वीं शताब्दी के आसपास लंकेश्वर रावण द्वारा रचित इस लघुकाय ग्रन्थ में मात्र ३४ सूत्र हैं।

७. संक्षिप्तसार — क्रमदीश्वर ने आचार्य हेमचन्द्र की तरह संक्षिप्तसार नामक इस संस्कृत प्राकृत-व्याकरण की रचना की है। इसके आरम्भ के सात अध्यायों में संस्कृत तथा अंतिम अष्टम अध्याय में प्राकृत व्याकरण प्राकृत प्रकाश के आधार पर लिखा है।

८. प्राकृत कल्पतरु — १५वीं शताब्दी के रामशर्म तर्कवागीश भट्टाचार्य कृत यह प्राकृत भाषा का व्याकरण ग्रन्थ पद्यबद्ध है।

९. षड्भाषा चंद्रिका — १६वीं शती के प्रसिद्ध विद्वान् लक्ष्मीधर कृत इस प्राकृत व्याकरण के ग्रन्थ में त्रिविक्रम के सूत्रों का संकलन किया गया है तथा सूत्रकार ने इसपर स्वयं वृत्ति लिखकर सेतुबन्ध, गडडवहो, गाहासत्तसई, कप्पूरमंजरी आदि ग्रन्थों के उदाहरण दिये हैं।

१०. प्राकृत चंद्रिका — १६वीं शती के प्रसिद्ध शेष श्रीकृष्ण ने इस प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ की रचना ४४१ पद्यों में की है।

११. प्राकृत-मणि-दीप — १६वीं शती के प्रसिद्ध अप्पयदीक्षित ने इस प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ की रचना की है।

१२. प्राकृतानन्द — पंडित रघुनाथ कवि (१८वीं शती) कृत यह एक महत्त्वपूर्ण प्राकृत का ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के हस्तलिखित शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

१३. प्राकृत रूपावतार — सिंहराज (१५वीं शती) कृत यह ग्रन्थ भी त्रिविक्रम के प्राकृत शब्दानुशासन का अनुकरण मात्र है।

१४. प्राकृत सर्वस्व — १७वीं शती के आचार्य मार्कण्डेय कृत यह प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ २० पादों में विभक्त है। इसमें दिये गये नियम पद्यबद्ध हैं तथा काव्यादर्श, भट्टिकाव्य, सेतुबन्ध, कर्पूरमंजरी, गउडबहो, मृच्छकटिक, शाकुन्तलम्, प्राकृत पैंगलम् आदि ग्रन्थों से इसमें उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें प्रायः अपभ्रंश की २७ तथा पैशाची की ११ विधाओं पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मार्कण्डेय ने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह और वसन्तराज नामक प्राकृत वैयाकरणों के नामोल्लेख किये हैं, जिनसे मार्कण्डेय ने अपने इस ग्रन्थ में विषय सामग्री ली है। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत व्याकरणों की प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है। आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र के १७वें अध्याय में भी प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया है।

१५. प्राकृत शब्द प्रदीपिका — नृसिंह शास्त्री कृत प्राकृत भाषा के इस व्याकरण ग्रन्थ का प्रकाशन उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से सन् १९९२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्राकृत की सभी भाषाओं का व्याकरण अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है।

१६. जैन सिद्धान्त कौमुदी — १९वीं शती के प्रकाण्ड विद्वान् मुनि रत्नचन्द्र जी ने इस बृहद् प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ की रचना की है तथा इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है।

१७. प्राकृत के अन्य व्याकरण — पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त षड्भाषाचक्रवर्ती शुभचन्द्रसूरि ने हेमचन्द्र का अनुकरण करके चिन्तामणि व्याकरण, मुनि श्रुतसागर ने औदार्यचिन्तामणि, आचार्य समन्तभद्र ने प्राकृत व्याकरण (अनुपलब्ध) तथा देवसुन्दर ने प्राकृतयुक्ति नामक

ग्रन्थ की रचना की है। षट्खण्डागम की धवला टीका के कर्ता आचार्य वीरसेन ने भी अज्ञातकर्तृक पद्यात्मक व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख किया है। इस तरह प्राकृत व्याकरण पर अनेक ग्रन्थों की रचना आचार्यों द्वारा की गई है।

बीसवीं शताब्दी के विद्वानों में पण्डितरत्न श्री प्यारचंद जी म. सा., पण्डित बेचरदास, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, युवाचार्य महाप्रज्ञ, डॉ. के. आर. चन्द्र, डॉ. कमलचन्द सौगानी, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. सुदर्शन लाल जैन, डॉ. उदयचन्द्र जैन आदि अनेक विद्वानों ने प्राकृत व्याकरण विषयक अनेक ग्रन्थों का निर्माण कर प्राकृत भाषा के अध्ययन के प्रचार-प्रसार में बहुमूल्य सहयोग किया है।

प्रो. कमलचन्द सौगानी जी के निर्देशन में अपभ्रंश भाषा अकादमी, जयपुर से सम्बद्ध अनेक विद्वानों एवं विदुषियों ने भी प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन कर इस विषयक साहित्य परम्परा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्राकृत भाषा की भाषागत प्रमुख विशेषतायें

यद्यपि प्राकृत भाषा के अनेक भेद-प्रभेद हैं, किन्तु सभी प्राकृत भाषाओं में प्रायः एक सामान्य प्रवृत्ति भी दिखलाई देती है, जो इसे अन्य प्राकृतेतर भाषाओं से अलग करती है। इस सामान्य प्राकृत को बाद में महाराष्ट्री प्राकृत भी कहा गया है।

सामान्य प्राकृत की प्रमुख विशेषतायें

१. प्राकृत में प्रायः संस्कृत भाषा के सभी स्वरों का अन्य दूसरे स्वरों में परिवर्तन होता है। जैसे ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण, दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण, स्वरों का लोप एवं सम्प्रसारण आदि।

३. ऋवर्ण के स्थान पर विभिन्न स्वरों (अ आ इ उ ए ओ रि) का प्रयोग। यथा - तृणम् > तणं, ऋषि > इसी, प्रवृत्ति > पउत्ती आदि।

३. ऐ के स्थान पर ए और अइ एवं औ के स्थान पर ओ का प्रयोग। जैसे ऐरावणः > एरावणो, दैत्यः > दइच्चो, कौमुदी > कोमुई, सौवर्णिकम् > सुवर्णिओ, कौरवः > कउरवो

४. आदिश, ष, स के स्थान पर 'स' का प्रयोग।

५. आदि य का ज में परिवर्तन। यथा - युवराज > जुवराय ।

६. शब्द के मध्यस्थान में प्रयुक्त असंयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप।

यथा रिपुः > रिऊ, लावण्यम् > लायण्णं, लोकः > लोओ, नगरम् > नयरः, आचारः > आयारो, गजः > गओ, लता > लया, कदली > कयली, विचार > विआर आदि।

७. असुयंक्त मध्य ख, घ, थ, ध, फ और भ का प्रायः ह में परिवर्तन। यथा - मुख > मुंह, जघन > जहन, शपथ > सबह, बधिर > बहिर, मुक्ताफल > मुक्ताहल, सभा > सहा आदि।

८. न के स्थान पर ण का प्रयोग यथा - वदनं > वयणं, वनम् > वणं।

९. हलन्त पदों का अभाव और पदान्त व्यंजनों का प्रायः लोप। यथा - पश्चात् का पच्छा, तस्मात् का तम्हा आदि।

१०. संयुक्त व्यंजनों का समानीकरण। यथा - शक्रः > सक्को, पूर्व > पुव्व, रत्नम् > रयणं।

११. विसर्ग के स्थान पर ए या ओ का प्रयोग।

१२. द्विवचन का लोप तथा षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति का परस्पर एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग।

१३. धातु रूपों में कमी तथा सरलीकरण।

प्राकृत भाषाओं का भाषागत वैशिष्ट्य

पालि, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं के इन प्रमुख भेदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है —

१. पालि भाषा

पालि बौद्ध-त्रिपिटकों एवं सम्बद्ध ग्रन्थों की मूल भाषा है। पालि भी प्राकृत भाषा का ही एक रूप (भेद) है, जिसे गौतमबुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम बनाया था। तत्कालीन प्रचलित अनेक बोलियों के मिश्रण से पालि भाषा का गठन हुआ, जिनमें मागधी प्रमुख थी। इसलिए कुछ विद्वान् इसे मागधी से विकसित मानते हैं। मागधी और पैशाची प्राकृतों से पालि की पर्याप्त समानता भी है, इनकी कतिपय भी प्रवृत्तियाँ पालि में उपलब्ध होती हैं। पालि का छान्दस के साथ भी पर्याप्त साम्य है। इसलिए इसे साहित्यिक प्राकृतों में सर्वाधिक प्राचीन भी माना जा सकता है।

पालि में मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। यह प्रभावशाली मध्यदेश की भाषा ही पालि का आधार है। मथुरा, अवंती, कौशांबी, कन्नौज, कौशल आदि स्थानों की बोलियों का प्रभाव भी पालि भाषा में देखने को मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह भी एक लोकभाषा रही है। पालि में बौद्धों का विपुल साहित्य उपलब्ध है। इसीलिए मुख्यतया यह बौद्ध साहित्य तक ही सीमित देखी जाती है।

यह भी एक आश्चर्य का विषय है कि सम्राट अशोक प्रायः बौद्धधर्म का समर्थक माना जाता है फिर भी उसने अपने शताधिक शिलालेख आदि पालि भाषा में न लिखवाकर प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मीलिपि में लिखवाये। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत जनभाषा के पद पर प्रतिष्ठित राजमान्य लोकप्रिय भाषा बनी हुई थी।

क) पालि और प्राकृत

प्राकृत.के अनेक प्रकारों में 'पालि' भाषा भी प्राकृत भाषा का ही एक प्राचीन रूप है। क्योंकि पालि भाषा की जो विशेषतायें हैं, उनमें अधिकांश प्राकृत भाषा के तत्त्व हैं। परन्तु भगवान तथागत के वचन जिस भाषा में संगृहीत किये गये, उसका प्राकृत भाषाओं से वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिए अलग, पालि भाषा नामकरण किया गया; क्योंकि पालि का निर्वचन भी पा रक्षणे धातु से 'पाति बुद्धवचनानि या सा पालिः', अर्थात् बुद्ध के वचनों की जो रक्षा करती है, उसे 'पालि' कहते हैं।

डॉ. भरत सिंह उपाध्याय ने 'पालि साहित्य के इतिहास' (पृ. १) में लिखा है कि पालि भाषा बुद्ध के उपदेशों और तत्सम्बन्धी साहित्य तक ही सीमित हो गयी थी। इस रूढ़िता के कारण पालि भाषा से आगे चलकर अन्य भाषाओं का विकास नहीं हुआ, जबकि प्राकृत की सन्तति निरन्तर बढ़ती रही। किन्तु पालि का साहित्य पर्याप्त समृद्ध है।

यह पालि भाषा भी भारत तथा अन्य दूसरे देशों में समादृत होने पर भी यह भाषा मुख्यतः बौद्ध धर्म के मानने वालों की ही भाषा रही। इसी कारण पालि से सिंहली को छोड़कर अन्य भाषाओं का विकास नहीं हो सका, जबकि प्राकृत भाषा से अनेक भाषायें विकसित होने से यह अनेक भाषाओं की जननी और सर्वमान्य भाषा रही है। इसी प्रकार अर्धमागधी प्राकृत को मुख्यतः जैनधर्म की श्वेताम्बर परम्परा ने अपनी भाषा स्वीकृत किया और अपने धर्मग्रन्थों की रचना इसी भाषा में की।

ख) पालि-प्राकृत में समानतायें

पालि एवं प्राकृत भाषाओं में अनेक समानतायें हैं। जैसे —

१. दोनों भाषाओं का ध्वनि समूह समान है।

२. दोनों में ऋ, ॠ, लृ, ए का लोप हो जाता है।

३. ऋ ध्वनि अ, इ उ स्वरों में से किसी एक स्वर में परिवर्ति हो जाती है।

४. दोनों में विसर्ग का प्रयोग नहीं मिलता।

५. द्विवचन दोनों में नहीं है।

६. चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति के रूप दोनों भाषाओं में प्राय एक ही रहते हैं।

७. संयुक्त व्यंजनों का समीकरण भी दोनों में एक समान होता है।

८. व्यंजन परिवर्तन भी समान है।

९. दोनों में ही संयुक्त व्यंजनों का समीकरण भी समान है।

१०. ष और श के स्थान पर दोनों में 'य' पाया जाता है।

ग) पालि-गद्य का उदाहरण

पालि मज्झिम निकाय के १. मूलपरियायसुत्त का आरम्भिक अंश — एवं मे सुतं। एकं सयमं भगवा उक्कट्टायं विहरति सुभगवने सालराजमूले। तत्थ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि — “भिक्खवो” ति। “भदन्ते” ति ते भिक्खू भगवतो पच्चस्सोसुं। भगवा एतदवोच — ‘सब्बधम्ममूलपरियायं वो, भिक्खवे, देसेस्सामि। तं सुणाथ, साधुकं मनसि करोथ; भासिस्सामी” ति। “एवं, भन्ते” ति खो ते भिक्खू भगवतो पच्चस्सोसुं।

अर्थात् ऐसा मैंने सुना है। एक समय भगवान् (बुद्ध) उक्कट्टा के सुभग वन में किसी विशाल साल वृक्ष के नीचे विराजमान थे। वहाँ भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया — उन भिक्षुओं ने भगवान् को ससम्मान ‘हाँ भन्ते’ — कह कर उत्तर दिया।

घ) पालि-धम्मपद की गाथाओं का उदाहरण

मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।

मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।

ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं॥ धम्मपद १॥

— विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं। सभी धर्म विचारों पर आश्रित हैं, विचारों से उत्पन्न हैं। यदि कोई बुरे विचार के साथ बोलता है या कोई काम करता है तो दुख उस व्यक्ति का पीछा उसी तरह करता है जैसे पहिया गाड़ी खींचने वाले बैल के पैर का पीछा करता है।

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।

अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनंतनो॥ वही ५॥

— इस संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते अपितु अवैर (अर्थात् प्रेम) से ही शान्त होते हैं। यही शाश्वत नियम है।

मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।

एकं च भावित्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।

सा एव पूजना सेय्या, यं चे वस्ससतं हुतं॥ वही १०६॥

— जो मनुष्य सौ बरस तक हजारों (रुपयों) के द्वारा यज्ञ करे और (दूसरी ओर) आत्मस्वरूप को जानने वाले एक ही व्यक्ति की क्षणमात्र पूजा करे तो वही पूजा सौ वर्ष तक किये गये हवन (यज्ञ) की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

२. मागधी प्राकृत

मागधी क्षेत्र की बोली को मागधी कहा जाता है। अन्य प्राकृतों की तरह इसका स्वतन्त्र साहित्य तो उपलब्ध नहीं है किन्तु संस्कृत नाटकों और शिलालेखों में इसका भी प्रयोग मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मागधी कोई निश्चित भाषा नहीं रही, बल्कि कई बोलियों का

सम्मिश्रण इसमें रहा होगा। क्योंकि इसका सम्पर्क भारत की अनेक बोलियों के साथ रहा है। पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों का विकास इसी प्राकृत से हुआ। सभी वैयाकरणों ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसकी प्रकृति शौरसेनी को माना गया है। विद्वानों ने शाकारी, चाण्डाली और शाबरी जैसी लोक भाषाओं को मागधी का ही रूपान्तर स्वीकार किया जाता है।

क) मागधी प्राकृत की सामान्य विशेषतायें

१. अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओ की जगह एकारान्त का प्रयोग, जैसे – एषः परुषः > एशे पुलिशे (पुरुष)।
 २. र के स्थान पर ल, जैसे राजा > लाआ, नरः > नले।
 ३. स और ष के स्थान पर मात्र तालव्य श का प्रयोग। किन्तु स और ष किसी संयुक्त वर्ण के साथ हों तो सामान्य प्राकृत की तरह दन्त्य सकार का ही प्रयोग होगा। जैसे निष्फलम् > निष्फलं, कष्टम् > कष्टं, वृहस्पतिः > वृहस्पदि जैसे जानाति > याणदि।
 ४. ज के स्थान पर य।
 ५. न्य, ण्य, ज्ञ, झ के स्थान पर ज, जैसे सामान्य > शामञ्ज, प्रज्ञा > पञ्जो।
 ६. अनादि च्छ के स्थान पर श्च, जैसे गच्छ > गश्च, पृच्छति > पुश्चदि।
 ७. अहं के स्थान पर हके, हगे और अहके – ये तीन आदेश होते हैं।
 ८. हृदय के स्थान पर हडक्क। जैसे मम हृदये > मम हडक्के।
– इत्यादि ये सब मागधी की सामान्य विशेषतायें हैं।
- मागधी प्राकृत के दो रूप मिलते हैं – १) प्रथम युग की

मागधी, जो सम्राट अशोक के शिलालेखों एवं महाकवि अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त होती है। २) दूसरी मध्ययुग की मागधी है, जो भास एवं इनके परवर्ती काल के नाटकों में और प्राकृत वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुई है। शाकरी, चाण्डाली और शाबरी – इन तीन भाषाओं को भी मागधी में सम्मिलित माना जाता है।

ख) मागधी प्राकृत का उदाहरण

सम्वाद के रूप में अग्रांकित गद्यांश महाकवि कालिदास विरचित “अभिज्ञान शाकुन्तलम्” नाटक के पंचम अंक के विष्कम्भ से उद्धृत है –

प्रत्यभिज्ञानकम्

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ – (ताडयित्वा) अले कुम्भिलआ। कहेहि, कहिं तुए एणे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अङ्गुलीअए शमाशादिए ?
पुरुषः – (भीतिं नाटितकेन) पशीदन्ते(न्तु) भावमिशशे(शशा)। अहके ण ईदिशकम्मकाली।

प्रथमः – किं खु शोहणे बम्हणे त्ति कलिअ लण्णा पडिग्गहे दिण्णे ?

पुरुषः – शुणुह दाणिं। अहके शक्कावदालब्भन्तलवाशी धीवले।

द्वितीयः – पाडच्चला। किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा ?

श्यालः – सूअअ ! कहेंदु सव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धह।

उभौ – यं आबु(वु)त्ते आणबे(वे)दि। कहेहि।

पुरुषः – अहके जालुग्गालादीहिं मच्छबन्धणोबा(वा)एहिं कुडुम्बभलणं कलेमि।

श्यालः – (विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो।

पुरुषः — भद्रा मा एव्म भण।

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदुं एव्म शोत्तिए॥

श्यालः — तदो तदो।

पुरुषः — एक्कशिश दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव। तशश उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अङ्गुलीअअं देक्खिअं। पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिशशेहिं। मालेह वा, मुज्जेह वा, अशं शे आअमवुत्तन्ते।

(हिन्दी अनुवाद)

(इसके अनन्तर पुलिस का प्रधान श्याल तथा पीछे की ओर (हाथ) बंधे हुए पुरुष को लेकर दो सिपाही प्रवेश करते हैं।)

दोनों सिपाही — (मारकर) अरे चोट्टे ! बता, तुम्हारे द्वारा यह जड़े हुए मणि एवं खुदे हुए नाम वाली राजा की अंगूठी कहाँ से पाई गई ?

पुरुष — (भय के अभिनय के साथ) महाशय ! प्रसन्न हों। मैं ऐसा (= चोरी का) काम करनेवाला नहीं हूँ।

पहला सिपाही — तो क्या उत्तम ब्राह्मण यह (जान) करके राजा के द्वारा (इसका) दान दिया गया है।

पुरुष — सुनिये तो। मैं शक्रावतार में रहने वाला धीवर हूँ।

दूसरा सिपाही — चोर कहीं का ? क्या हम लोगों के द्वारा जाति पूछी गई है।

श्याल — सूचक ! सब कुछ क्रम से कहे। उसे बीच में मत टोको।

दोनों (सिपाही) — श्रीमान् जी ! जैसे आज्ञा दें । कह।

पुरुष — मैं जाल से निकलने आदि रूप मछलियों को पकड़ने के उपाय से कुटुम्ब का भरण करता हूँ।

श्याल — (हँसकर) तब तो बड़ी शुद्ध आजीविका है।

पुरुष — स्वामी। ऐसा न कहें।

जो निन्दित काम जन्म से चला आ रहा है, वह (काम) नहीं छोड़ना चाहिए। अनुकम्पा से मृदु उत्तम ब्राह्मण भी पशु के मारने रूप कर्म में कठोर होता है।

श्याल — उसके बाद, उसके बाद ?

पुरुष — एक दिन रोहित मछली ज्यों ही मेरे द्वारा काटी गई, उसके पेट के भीतर यह रत्न से चमकती हुई अंगूठी दिखी। बाद में इसे बेचने के लिए दिखाता हुआ महाशयों द्वारा पकड़ लिया गया। मारिए या छोड़िए। यह इसके आने का वृत्तान्त है।

ग) मागधी गाथा का उदाहरण

पुञ्जे निश्शाद-पञ्ज सुञ्जले यदि-पथेण वञ्जन्ते।

शयल-यय-वश्रलत्तं गश्चन्ते लहदि पलमपदं॥कुमार० चरित॥

अर्थात् पुण्यात्मा, कुशाग्र प्रज्ञावाला, सुप्राञ्जल, यतिमार्ग का अनुसरण करता हुआ, सकल जग की वत्सलता का आचरण करता हुआ परमपद को प्राप्त करता है।

३. अर्धमागधी प्राकृत

प्राकृत आगमों के उल्लेखानुसार तीर्थंकर महावीर के युग में (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) अट्ठारह महाभाषायें एवं सात सौ लघुभाषायें (बोलियाँ) प्रचलित थी। आगमों में ही अर्धमागधी को अट्ठारह देशी भाषाओं से प्रसूत तथा सर्वभाषामयी प्रमुख भाषा भी बताया गया है। अर्धमागधी को आर्ष प्राकृत भी कहा जाता है। इसे तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषा माना जाता है। इसी भाषा में श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

प्राचीन आर्य प्रदेश के आधे भाग में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी कहते हैं। इसमें मागधी प्राकृत की कतिपय विशेषताएं पाये

जाने के कारण कुछ विद्वान् इसे अर्धमागधी कहते हैं। मार्कण्डेय के अनुसार शौरसेनी के निकट होने के कारण शौरसेनी को अर्धमागधी भी मानते हैं। निश्चय ही उपर्युक्त तीनों तथ्यों में सच्चाई मालूम पड़ती है, क्योंकि शौरसेनी और मागधी के क्षेत्र के बीच में बोली जाने वाली भाषा का अर्धमागधी नामकरण सार्थक लगता है। अर्धमागधी की रूपसंरचना में मागधी और शौरसेनी का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है।

क) अर्धमागधी की कतिपय विशेषताएं

१. इसमें 'क' के स्थान पर 'ग' होता है, किन्तु कहीं त् और य मिलते हैं।
२. प् की व्, य् श्रुति भी देखी जाती है।
३. प्रथमा एकवचन में 'ए' तथा 'ओ' पाये जाते हैं। किन्तु गद्य में 'ए' तथा पद्य में 'ओ' का बाहुल्य है।
४. धातुरूपों के भूतकाल में 'इंसु' प्रत्यय लगता है।
५. कृदन्त में एक ही धातु के अनेक रूप देखे जाते हैं - कृत्वा के कट्टु, किच्चा, कारिता, करिलाणं आदि।
६. अर्धमागधी में 'न' के स्थान पर 'ण' और 'न' दोनों मिलते हैं।

ख) अर्धमागधी प्राकृत का प्रमुख आगम साहित्य

अंग आगम साहित्य - १. आचारांगसूत्र, २. सूत्रकृतांगसूत्र, ३. स्थानांगसूत्र, ४. समवायांगसूत्र, ५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशांगसूत्र, ८. अन्तकृत्दशासूत्र, ९. अनुत्तरौपपातिक-दशासूत्र, १०. प्रश्नव्याकरणसूत्र, ११. विपाकसूत्र, बारहवां दृष्टिवाद लुप्त माना जाता है।

उपांग आगम साहित्य - १. औपपातिकसूत्र, २. राजप्रश्नीयसूत्र, ३. जीवाजीवाभिगमसूत्र, ४. प्रज्ञापनासूत्र, ५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र,

६-७. सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८. निरयावलिका, ९. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिकासूत्र, ११. पुष्पचूलिकासूत्र, १२. वृष्णिदशसूत्र।

मूलसूत्र — १. उत्तराध्ययनसूत्र, २. दशवैकालिकसूत्र, ३. नन्दीसूत्र, ४. अनुयोगद्वारसूत्र।

छेदसूत्र — १. दशाश्रुतस्कंध, २. बृहत्कल्पसूत्र, ३. व्यवहारसूत्र, ४. निशीथ।

प्रकीर्णक (पड़ण्णा) — १. चतुःशरण, २. आतुर प्रत्याख्यान, ३. महाप्रत्याख्यान, ४. भक्त-परिज्ञा, ५. तन्दुलवैचारिक या वैकालिक, ६. संस्तारक, ७. गच्छाचार, ८. गणिविद्या, ९. देवेन्द्र-स्तव, १०. मरण-समाधि ये दस प्रकीर्णक आगम शास्त्र काफी प्राचीन माने जाते हैं।

दो चूलिका सूत्र — १. नन्दीसूत्र, २. अनुयोगद्वार।

ये सभी आगम गद्य और पद्य दोनों विधाओं में उपलब्ध हैं, जिनमें सैद्धान्तिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, तात्त्विक, आचारगत एवं कथात्मक विषयों का सांगोपांग विवेचन सूत्र शैली में निबद्ध है। यह विशाल प्राकृत आगम शास्त्र भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर है।

व्याख्या साहित्य — इन आगमों पर लम्बे समय तक लिखा गया विपुल मात्रा में व्याख्या साहित्य तथा शताधिक स्वतंत्र ग्रन्थ अर्ध-मागधी प्राकृत साहित्य की अमूल्य अक्षय निधि है। यह व्याख्यात्मक साहित्य पूर्वोक्त अनेक आगमों पर, मुख्यतः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका आदि नामों में अत्यधिक मात्रा में व्याख्या साहित्य उपलब्ध है।

इनमें आचार्य भद्रबाहु प्रणीत निर्युक्तियां प्रायः प्राकृत गाथाबद्ध हैं। भाष्य ग्रन्थ लगभग पांचवी-छठीं शती के रचित हैं। चूर्णियां प्राकृत-संस्कृत मिश्रित रूप में गद्य में हैं। टीकार्यें प्रायः संस्कृत में हैं, किन्तु कथा भाग प्रायः प्राकृत में निबद्ध है।

ग) अर्धमागधी-गद्य का उदाहरण

यहाँ प्रस्तुत है अर्धमागधी प्राकृत भाषा के गद्यांश का उदाहरण जो कि आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक शस्त्र परिज्ञा का प्रारम्भिक अंश है -

१. अप्पणो अत्थित्त-पदं -

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं - इहमेगिसिं नो सण्णा भवइ, तं जहा - पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

२. एवमेगिसिं णो णातं भवति - अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

३. सेज्जं पुण जाणेज्जा - सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, तं जहा - पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

४. एवमेगिसिं जं णातं भवइ - अत्थि मे आया ओववाइए। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं।

५. से आयावाई, लोगावाई, कम्पावाई, किरयावाई।

हिन्दी अनुवाद

१. आत्मा का अस्तित्व — आयुष्मन् मैंने सुना है। भगवान ने कहा — इस जगत् में कुछ (मनुष्यों) को यह संज्ञा नहीं होती, जैसे — मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अथवा अधो दिशा से आया हूँ, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूँ अथवा अनुदिशा से आया हूँ।

२. इसी प्रकार कुछ (मनुष्यों) को यह ज्ञात नहीं होता — मेरी आत्मा पुनर्जन्म नहीं लेने वाली है। अथवा मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। मैं (पिछले जन्म में) कौन था ? मैं यहां से च्युत होकर अगले जन्म में क्या होऊंगा ?

३. कोई (मनुष्य) — पूर्वजन्म की स्मृति से, पर (प्रत्यक्षज्ञानी) के निरूपण से, अथवा अन्य (प्रत्यक्षज्ञानी के द्वारा श्रुत व्यक्ति) के पास सुनकर, यह जान लेता है, जैसे — मैं पूर्व दिशा से आया हूँ ? अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ, अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अथवा अधो दिशा से आया हूँ, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूँ, अथवा अनुदिशा से आया हूँ।

४. इसी प्रकार कुछ (मनुष्यों) को यह ज्ञात होता है — मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है, जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करती है; जो सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करता है, वह मैं हूँ।

५. (जो अनुसंचरण को जान लेता है) वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

घ) अर्धमागधी-गाथाओं का उदाहरण

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मो सया मणो॥ दशवै० १/१॥

— धर्म उत्कृष्ट मंगल है, वह धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्टिकुव्वई।

साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥ दशवै० २/३॥

— त्यागी वही कहलाता है जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर, उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है।

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।

कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई॥ दशवै० ४/७॥

— कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो।

पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर यह है —

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधई॥ दशवै० ४/८॥

— यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यातनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता।

जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणइ।

जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं॥ दशवै० ४/१२॥

— जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा ?

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।

तम्हा. पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ दशवै० ६/१०॥

— सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन (त्याग) करते हैं।

जाए सद्धाए निक्खंतो परियायट्टाणमुत्तमं।

तमेव अणुपालेज्जा गुणे आयरियसम्मए॥ दशवै० ८/६०॥

— हे मुने ! जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला, उस श्रद्धा को (जीवन पर्यन्त) पूर्ववत् बनाए रखे और आचार्य-सम्मत गुणों का अनुपालन करे।

जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।

न हु ते समंणा बुच्चंति, एव आयरिएहिं अक्खायं॥

— उत्तराध्ययन ८/१३

— जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र और अंगविद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हें श्रमण नहीं कहा जाता, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥ उत्तराध्ययन ३/१॥

— इस जगत में प्राणी को (मोक्षप्राप्ति के) चार परम अंगों (उत्कृष्ट वस्तुओं) की प्राप्ति दुर्लभ है। वे चार ये हैं — १. मनुष्यत्व अर्थात् मनुष्य जन्म की प्राप्ति, २. श्रुत-शास्त्र-श्रवण, ३. श्रद्धा और ४. संयममार्ग में पुरुषार्थ।

जं अन्नाणी कम्मं, खेवइ बहुआहिं वासकोडिहिं।

तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेद उसासमित्तेण॥

अज्ञानी जिन कर्मों को बहुत करोड़ों वर्षों से खपाता है, उन कर्मों को ज्ञानी जीव मन-वचन-काय — इन तीन गुप्तियों से एक उच्छ्वास मात्र समय में खपाता (क्षय कर लेता) है।

४. शौरसेनी प्राकृत

शौरसेनी प्राकृत भाषा शूरसेन जनपद अर्थात् मथुरा प्रदेश और इसके आसपास सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में बोली जाने वाली लोक बोली एवं भाषा रही है। शूरसेन जनपद की स्थापना बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के एक यादव-वंशी पूर्वज शूरसेन ने की थी। प्राचीन वाङ्मय से ज्ञात होता है कि यदुवंश के इस प्रतापी नरेश ने शौरीपुर नगर बसाया था। इस वंश में समुद्रविजय, वसुदेव, बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ, नौवें बलभद्र बलराम और नौवें नारायण श्रीकृष्ण आदि प्रतापी राजा हुए।

इनके प्रभावक व्यक्तित्व और अजेय शौर्य ने समस्त संसार में शूरसेन जनपद को, जो महाराज शूरसेन के नाम पर स्थापित हुआ था, महान् गौरव प्रदान किया और उस जनपद में बोली जाने वाली भाषा शूरसेन जनपद के नाम पर शौरसेनी कहलाने लगी।

षड्भाषाचन्द्रिकाकार लक्ष्मीधर ने शौरसेनी का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है — ‘शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते’। अर्थात् — शूरसेन देश में उत्पन्न हुई भाषा शौरसेनी कही जाती है।

इस भाषा का प्रचार-प्रसार पूर्व में कलिंग, पश्चिम में सौराष्ट्र तथा दक्षिण में कर्नाटक, आन्ध्र, तमिल आदि अनेक प्रदेशों तक था। मध्य-देश (गंगा-यमुना की उपत्यका) तो इसका मूलस्थान ही था। मध्यदेश प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र और संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति का भी प्रमुख केन्द्र रहा है। इस भाषा की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इस भाषा का उद्भव और विकास उत्तर भारत में हुआ किन्तु इस भाषा में साहित्य का अधिक प्रणयन दक्षिण भारत में हुआ।

दिगम्बर जैन परम्परा के प्रमुख आगमिक तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ इसी भाषा में निबद्ध हैं। इनमें षट्खण्डागम, कसायपाहुडसुत्त जैसे

आगम ग्रन्थ तथा आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर, शिवार्य, यतिवृषभ, पुष्यदन्त-भूतबलि, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, कार्तिकेय, वसुनन्दि आदि अनेक आचार्यों के ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में ही लिखे गये हैं।

कुछ प्राचीन जैन ग्रन्थों की शौरसेनी भाषा में कतिपय विशिष्टताएं पायी जाती हैं, जिससे कुछ विद्वानों की दृष्टि से इसे 'जैन शौरसेनी' भी कहा जाता है। किन्तु मात्र कुछ विशेषताओं के कारण यह अलग नामकरण उपयुक्त नहीं है। अतः मूलतः यह भी शौरसेनी ही है।

क) नाटकों की शौरसेनी

आचार्य भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र (१७.४६, ५१) में कहा है कि नाटकों की बोलचाल की भाषा में शौरसेनी का आश्रय लेना चाहिये तथा महिलाओं और उनकी सखियों, दासियों, सामान्यतः कुलीन स्त्रियों और मध्यम वर्ग के पुरुषों को इस भाषा में वार्तालाप करना चाहिये। तदनुसार अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास, विशाखदत्त में प्राकृत का गद्यभाग सामान्यतया शौरसेनी में लिखा गया है। अश्वघोष द्वारा प्रयुक्त शौरसेनी उत्तरकालीन संस्कृत नाटकों की शौरसेनी का प्राचीनतम रूप है, जो पालि और अशोक के शिलालेखों की प्राकृत के अनुरूप है।

अश्वघोष के नाटकों की शौरसेनी और अन्य प्राकृतें उत्तरकालीन क्लासिकल संस्कृत नाटकों की शौरसेनी की अपेक्षा, संस्कृत के अधिक निकट पाई गई हैं, इससे विद्वानों की मान्यता है कि नाटकों में शौरसेनी तथा अन्य प्राकृतों का प्रयोग तब आरम्भ किया गया जबकि अधिकतर प्राकृत बोलने वाले संस्कृत समझ सकते थे। वररुचि ने प्राकृतप्रकाश (१२.२) में संस्कृत को शौरसेनी का आधारभूत स्वीकार किया है। क्लासिकल संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी विभक्ति-बहुल होने पर भी वह संस्कृत की अपेक्षा काफी सहजगम्य थी और उसे अपभ्रंश, जो शनैः शनैः विकसित हो रही थी, को बोलने वाले आसानी से समझ सकते थे। (प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. ३१)

ख) नाटकों और जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की शौरसेनी

नाटकों की शौरसेनी में जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की शौरसेनी की अपेक्षा कुछ अधिक भिन्नता है। उसमें त का द, क का ग, य श्रुति और प्रथमा एकवचन में ओ मिलते हैं। इसके कृ धातु के कुब्बदि, करेदि, कुणेदि, कुणई, कुणदि तथा क्त्वा के समतुल्य य, च्या, इय, तु, दूण, ऊण आदि प्रत्यय पाये जाते हैं। शौरसेनी में न का ण हो जाता है। 'य' के स्थान पर य एवं ज्ज दोनों का प्रयोग होता है।

ग) शौरसेनी की भाषागत प्रमुख विशेषतायें

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में शौरसेनी प्राकृत की अनेक व्याकरणगत विशेषताओं का उल्लेख किया है। वस्तुतः शौरसेनी मध्यदेश की भाषा होने के कारण यह संस्कृत से भी काफी प्रभावित रही है, इसीलिए इसकी प्रकृति भी संस्कृत मानी जाती है। फिर भी प्राचीन प्राकृत होने के कारण इसमें देशी शब्दों का बाहुल्य एवं वैकल्पिक प्रयोग भी मिलते हैं।

शौरसेनी की कतिपय भाषागत विशेषतायें इस प्रकार हैं -

१. क) अनादि में विद्यमान त् का द् और थ् का ध् होता है।
ख) किन्तु संयुक्त होने से त् को द् नहीं होता।
ग) साथ ही आदि में रहने पर भी त् का द् नहीं होता।
जैसे - क) आगतः > आगदो, ख) नाथः > णाथो,
णाहो, कथम् > कधं, कहं, ग) आर्यपुत्रः > अज्जउत्तो, घ)
तस्य > तस्स, तथा > तथा।
२. 'र्य' के स्थान पर विकल्प में 'य्य' आदेश होता है और विकल्पाभाव में 'ज्ज' आदेश होता है। जैसे - आर्यपुत्रः > अय्यउत्तो, अज्जउत्तो,
पर्याकुलः > पय्याउलो, पज्जाउलो।
३. 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख' होता है। जैसे - चक्षु > चक्खु,
इक्षुः > इक्खु।

४. शौरसेनी के सिद्धान्त ग्रन्थों में 'न' के स्थान पर 'ण' ही प्रवृत्ति प्रायः देखने को मिलती है। जैसे – नमो > णमो, नाम > णाम, आलपन > आलावण, ज्ञानी > णाणी।
५. ख, घ, थ, ध, फ, भ को 'ह' हो जाता है। जैसे – मुखम् > मुहं, मेघः > मेहो , मेधा > मेहा, फुल्ल > हुल्ल, लाभः > लाहो।
६. कर्ताकारक (प्रथमा) के एकवचन में 'ओ' प्रत्यय के अतिरिक्त 'ए' प्रत्यय का भी प्रयोग होता है। जैसे – इंदियो, इंदिए, काओ > काए, जोगो > जोगे।
७. इन्नन्क शब्दों के सम्बोधन के एकवचन में विकल्प से नकार को आकार होता है। जैसे – सुखिन् > सुखिआ, कञ्चुकिन् > कञ्चुइआ।
८. इह और ह्य आदेश के स्थान पर विकल्प से 'ध' होता है। जैसे— इह > इध, इह, परित्रायध्व > परित्तायध, परित्तायह।
९. भू धातु के भकार को विकल्प से हकार आदेश होता है। जैसे भवति > होदि; भोदि।
१०. स्त्री शब्द के स्थान पर इत्थी, इव को विअ, एव को जेव्व और आश्चर्य को अच्चरिअं आदेश होता है।
११. पूर्व के स्थान पर विकल्प से पुरव, इदानीम् को दाणिं, तस्मात् को ता आदेश होता है।
१२. गृध्र जैसे शब्दों के ऋकार के स्थान पर इकार होता है। जैसे – गृद्धः > गिद्धो।
१३. ब्राह्मण्य, विज्ञ, यज्ञ और कन्या शब्दों के क्रमशः ण्य, ज्ञ, और न्य के स्थान पर विकल्प से 'ञ्ज' आदेश होता है। जैसे – ब्राह्मण्यः > बम्हञ्जो, बम्हणो, विज्ञः > विञ्जो, विण्णो, यज्ञः > जञ्जो, जण्णो, कन्या > कञ्जो, कण्णा।

१४. क) 'क्त्वा' प्रत्यय को विकल्प से इय और दूण आदेश होता है।
जैसे - भूत्वा > भविय, भोदूण, भोत्ता। पठित्वा > पढिय,
पढिदूण, पढित्ता।

ख) पूर्वोक्त आदेशों के साथ ही विकल्प से 'अडुअ' आदेश
भी होता है। जैसे कृत्वा > कडुअ, करिय, करिदूण।
गत्वा > गडुअ, गच्छिअ, गच्छिदूण।

घ) शौरसेनी प्राकृत का उपलब्ध प्रमुख साहित्य

जैसे श्वेताम्बर जैन परम्परा के आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है, उसी प्रकार दिगम्बर जैन परम्परा के आगम ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। वैसे ही मथुरा प्राचीनकाल से ही जैन आचार्यों की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी कृतियों में शौरसेनी की प्रमुखता आना स्वाभाविक है। शौरसेनी के उपलब्ध प्रमुख आगम ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत है -

आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम, आचार्य गुणधर द्वारा रचित कसायपाहुड, (कषायप्राभृत), आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित तिलोयपण्णत्ति, आचार्य वट्टकेर कृत मूलाचार, आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना, आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, बारस अणुवेक्खा, भक्तिसंगहो।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार, आचार्य देवसेन प्रणीत दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, आचार्य श्रुतमुनि प्रणीत परमागमसारो, भाव त्रिभंगी, आश्रव त्रिभंगी। आचार्य वसुनन्दि प्रणीत वसुनन्दिश्रावकाचार, तच्चवियारो सारो, आचार्य कार्तिकेय प्रणीत कार्तिकेयानुप्रेक्षा। मुनि नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह, आचार्य शिवशर्म प्रणीत कम्मपयडि, शतकचूर्णि इत्यादि शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख आगमसम ग्रंथ हैं।

ड) शौरसेनी प्राकृत के गद्यांश का उदाहरण

तेण वि सोरट्ट-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण
अट्ठंग-महाणिमित्तपारएण गंथ-वोच्छेदो होहिदि त्ति जाद-भएण
पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो
पेसिदो। लेह-ट्टिय-धरसेणाइरिय-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि
बे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-बहु-विह-विणय-
विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-त्तित्ता देस-कुल-
जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अंधविसय-
वेण्णायडादो पेसिदा।

तेसु आगमच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमभाए कुंदेंदु-संखवण्णा
सब्ब-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पदाहिणा पाएसु णिसुद्धिय-
पदियंगा बे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा। एवंविह-
सुमिणं दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरिएण 'जयउ सुय देवदा' त्ति
संलवियं'।

तद्विसे चेय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं। तदो
धरसेण-भयवदो किदियम्मं काउण दोण्णिण दिवसे बोलाविय
तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहिं विण्णत्तो 'अणेण
कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुगवया' त्ति। 'सुट्ठु भदं' त्ति
भणिऊण धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा।

(यह गद्यांश आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि प्रणीत "षट्खण्डागम,
भाग १, पृ. ६८-६९ से लिया गया है, जिसमें इस आगम ग्रन्थ-लेखन
का पूरा वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है)

हिन्दी अनुवाद

सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देश के गिरिनार नाम के नगर
की चन्द्रगुफा में रहने वाले, अष्टांग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल

और आगे अंग-श्रुतका विच्छेद हो जायेगा। — इस प्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको, ऐसे उन धरसेनाचार्य ने महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु-सम्मेलन में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिण देश के निवासी) आचार्यों के पास एक लेख (पत्र) भेजा।

लेख (पत्र) में लिखे गये धरसेनाचार्य के वचनों को भलीभांति समझकर, (दक्षिणापथ के) उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, नाना प्रकार की उज्ज्वल और निर्मल विनय से विभूषित अंगवाले, शीलरूपी माला के धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजन से तृप्त हुए, देश, कुल और जाति से शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश, उत्तम कुल और उत्तम जाति में उत्पन्न हुए, समस्त कलाओं में पारंगत और तीन बार पूछा है आचार्यों से जिन्होंने, (अर्थात् आचार्यों से तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे (पुष्पदन्त और भूतबलि नामक) दो साधुओं को आन्ध्र-देश में बहनेवाली वेणानदी के तट से भेजा।

मार्ग में उन दोनों साधुओं के आते समय, जो कुन्द के पुष्प, चन्द्रमा और शंख के समान सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) की तीन प्रदक्षिणा दी हैं और जिनके अंग नम्रित होकर आचार्य के चरणों में पड़ गये हैं ऐसे दो बैलों को धरसेन भट्टारक ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में देखा। इस प्रकार स्वप्न को देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने 'जयउ सुय देवदा' (श्रुतदेवता जयवन्त हो) — ऐसा वाक्य उच्चारण किया।

उसी दिन दक्षिणापथ से भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्य को प्राप्त हुए। उसके बाद धरसेनाचार्य की पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनों ने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि 'इस कार्य से हम दोनों आपके पादमूल को प्राप्त हुए हैं।' उन दोनों साधुओं के इस प्रकार निवेदन करने पर 'अच्छा है, कल्याण हो' इस प्रकार कहकर धरसेन भट्टारक ने उन साधुओं को आश्वासन दिया।

च) शौरसेनी-गाथाओं के उदाहरण

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।

पणमामि वडद्धमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥१॥

यह जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वन्दित हैं तथा जिन्होंने घाति कर्ममलको धो डाला है, ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान स्वामी को मैं (कुन्दकुन्दाचार्य) प्रणाम (नमन) करता हूँ।

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।

समणे य णाणदंसणचरित्तववीरियायारे॥२॥

पुनः विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थकरों की सर्व सिद्ध-भगवन्तों के साथ ही, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार युक्त श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।

वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते॥३॥

उन-उन सबको एकसाथ तथा मनुष्य क्षेत्र में विद्यमान अरहन्तों को साथ ही साथ – समुदाय रूप से और प्रत्येक को – व्यक्तिगत वन्दना करता हूँ।

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।

अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं॥४॥

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।

उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती॥५॥ (पणगं)

इस प्रकार अरहन्तों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्याय वर्ग का और सर्व साधुओं को नमस्कार करके उनके विशुद्ध-दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रम को प्राप्त करके, मैं साम्य को प्राप्त करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बारह-अंगगिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।

विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं।।६।।

— षट्खण्डागम धवला टीका १/१/२

जो श्रुतज्ञान के प्रसिद्ध बारह अंगों से ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगों का समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकार के मूल (अतिचार) और तीन मूढताओं से रहित सम्यग्दर्शन — रूप उन्नत तिलक से विराजमान है और नाना-प्रकार के निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो।

५. महाराष्ट्री प्राकृत

‘सामान्य प्राकृत’ भाषा के रूप में महाराष्ट्री प्राकृत स्वीकृत मानी जाती है। किन्तु महाराष्ट्री — इस नामकरण का मूल कारण महाराष्ट्र में इसकी उत्पत्ति स्थान ही है। मराठी भाषा का विकास भी इसी प्राकृत से हुआ। महाराष्ट्र में जो प्राचीन प्राकृत प्रचलित थी, उसे लीलावर्द्ध-कहा के कर्ता कोऊहल ने मरहट्ट को देशी भाषा कहा है। इससे स्पष्ट है कि मरहट्ट देशी भाषा से ही प्राकृत काव्यों और नाटकों में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ होगा। इसमें संस्कृत वर्णों के लोप की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। इसके वर्ण अधिक कोमल ललित और मधुर हैं। इसलिए काव्यों में इसे सर्वाधिक स्थान मिला है। ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान काल तक इसी प्राकृत में काव्य साहित्य का प्रणयन होता आ रहा है। इस भाषा का कथा और काव्य साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है।

महाकवि दण्डी (ईसा की छठी शती) ने अपने काव्यादर्श नामक अलंकार शास्त्र में लिखा है —

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

अर्थात् महाराष्ट्र में बोली जाने वाली इस प्राकृत को उत्तम प्राकृत के रूप से विहित किया है। क्योंकि यह प्राकृत सूक्तिरूपी रत्नों का सागर है और इसमें सेतुबन्ध आदि की रचना की गई है। इस कथन से महाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की समृद्धि का ज्ञान होता है।

प्राकृत के जैन काव्य-ग्रन्थों और नाटक आदि इतर काव्य-ग्रन्थों की महाराष्ट्री में कुछ भिन्नता भी देखी जाती है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे भी जैन महाराष्ट्री कह देते हैं तथा 'जैनमहाराष्ट्री' और 'महाराष्ट्री' इसके ये दो भेद भी स्वीकार करते हैं।

क) भाषागत विशेषतायें — सामान्य प्राकृत माने जाने के कारण भी अनेक आधुनिक भारतीय भाषायें तथा बोलियाँ इससे सर्वाधिक प्रभावित देखी जाती हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण लिखकर अन्य प्राकृतों की केवल विशेषतायें गिनाई हैं। वे इस प्रकार हैं —

१. ऋ, ॠ एवं लृ का सर्वथा अभाव।
२. ऋ वर्ग के स्थान पर अ, इ, उ, रि का प्रयोग। जैसे — ऐ, औ के स्थानों पर ए, ओ का प्रयोग।
३. विसर्ग का अभाव, पदान्त व्यंजनों का लोप।
४. श, ष और स के स्थान पर के "स" का प्रयोग।
५. द्विवचन का लोप।
६. हलन्त प्रातिपादित की समाप्ति।
७. पदान्त व्यंजनों का लोप।
८. संयुक्त व्यंजनान्त ध्वनियों का समीकरण।

महाराष्ट्री प्राकृत की ये सब प्रमुख सामान्य विशेषतायें हैं, जिनका उल्लेख पहले ही सामान्य प्राकृत की विशेषताओं में किया जा चुका है।

ख) महाराष्ट्री प्राकृत में रचित साहित्य

सभी प्रकार की प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत में विविध प्रकार का और प्रायः सभी विषयों का सर्वाधिक साहित्य प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि महाराष्ट्री प्राकृत सामान्य कहलाती है। यह सरस, सुबोध एवं सरल भी है। इसीलिए इसमें गद्य एवं पद्य दोनों विधाओं शताधिक में चरित काव्य एवं कथा काव्य आदि उपलब्ध हैं। महाकवि वाक्पतिराज ने (गउडवहो १२) कहा भी है -

णवमत्थ - दंसणं संनिवेस सिसिराओ बन्ध-रिद्धीओ।

अविरलमिणमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि॥

अर्थात् - सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है, तो केवल प्राकृत में है। इसीलिए महाराष्ट्री-प्राकृत में विविध विषयों के चरित एवं कथा-ग्रन्थों का विपुल रूप में प्रणयन किया गया है। इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है -

ग) प्राकृत काव्य साहित्य

१. शास्त्रीय महाकाव्य - महाकवि प्रवरसेन (पांचवीं शताब्दी) कृत सेतुबन्ध, वाक्पतिराज (ई. सन् ७६०) कृत गउडवहो, आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं सदी) कृत द्व्याश्रय महाकाव्य, महाकवि कोऊहल (९वीं शती) द्वारा रचित लीलावई कहा, कवि कृष्णलीला शुक एवं दुर्गादास (१३वीं शती) द्वारा रचित सिरिचिंधकव्व (श्रीचिह्नकाव्य) अपरनाम गोविन्दाभिषेक तथा महाकवि श्रीकण्ठ (अठारहवीं सदी) द्वारा रचित सोरि (शौरि) चरित आदि प्रमुख महाकाव्य मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत में रचित हैं।

२. खण्डकाव्य - रामपाणिवाद (जन्म ई. सन् १७०७) कृत कंसवहो, उषानिरुद्ध तथा अज्ञातकर्तृक भृङ्गसंदेश जैसे खण्डकाव्य महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में उपलब्ध हैं।

३. चरित काव्य - आचार्य विमलसूरि (दूसरी शती) विरचित

पउमचरियं, धनेश्वर सूरि (११वीं शती) विरचित सुरसुन्दरी चरियं, लक्ष्मणगणि (१२वीं शती) विरचित सुपासनाहचरिय, चन्द्रप्रभ महत्तर (१२वीं शती) द्वारा रचित सिरिविजयचंदकेवलचरियं, नेमिचन्द्रसूरि (१२वीं शती) द्वारा रचित महावीर चरियं, देवेन्द्रसूरि (१३वीं शती) द्वारा रचित कणहचरियं एवं सुदंसणा चरियं, अनन्तहंस (१६वीं शती) विरचित कुम्पापुत्त चरियं, सोमप्रभसूरि विरचित सुमतिनाह चरियं, वर्धमान सूरि विरचित आदिनाह चरियं एवं मनोरमा चरियं, जिनेश्वरसूरि सूरि विरचित चंदप्पहचरियं इत्यादि प्रमुख चरित काव्य ग्रन्थ हैं।

४. गद्य-पद्य मिश्रित चरित काव्य — श्री शीलांकाचार्य (९वीं शती) विरचित चउप्पन महापुरिस चरियं, गुणपाल मुनि (११वीं शताब्दी) विरचित जंबूचरियं, नेमिचन्द्रसूरि (१२वीं शती) विरचित रयणचूडराय चरियं, गुणचन्द्रसूरि (११वीं शती) द्वारा रचित महावीरचरियं — जैसे गद्य-पद्य मय चरित काव्य हैं।

५. चम्पूकाव्य — उद्योतनसूरि (शक सं. ७००) विरचित कुवलमाला कहा।

६. मुक्तक काव्य — हाल कवि (ईसा की प्रथम शती) विरचित गाहासत्तसई (गाथासप्तशती), मुनि जयवल्लभ (चौथी शती) विरचित वज्जालगग, अज्ञातकर्तृक विषमबाणलीला और प्राकृत पुष्करिणी।

७. रसेतर मुक्तक काव्य — अज्ञातकर्तृक वैराग्य शतक, लक्ष्मीलाभगणि विरचित वैराग्य रसायन प्रकरण, पद्मनन्दि मुनि विरचित धम्मरसायण, कवि धनपाल रचित ऋषभ पंचासिका, उवसग्गहर स्तोत्र। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्री प्राकृत में अन्यान्य प्रायः सभी विधाओं का विपुल साहित्य उपलब्ध है।

घ) प्राकृत कथा साहित्य

प्राकृत भाषा का कथा साहित्य बहुत ही समृद्ध है। जैन आगमों में उदाहरण दृष्टान्त, उपमा, रूपक, सम्वाद और लोक प्रचलित कथा आख्यान आदि विपुल मात्रा में प्राप्त होता है। जैन आगमों का टीका-

साहित्य भी कथा, कहानियों का अच्छा भण्डार है। ये टीकायें संस्कृत में होने पर भी इनका कथा भाग प्राकृत में भी निबद्ध है। प्राकृत भाषा की इन रचनाओं को हर्मन याकोबी जैसे विद्वानों ने महाराष्ट्री प्राकृत नाम दिया है।

डॉ. जगदीश चन्द्र जैन ने अपने 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' (पृ. ३२०) में ठीक ही लिखा किया है – अल्प बुद्धिवाले लोग संस्कृत नहीं समझते, इसलिये सुखबोध प्राकृतकाव्य की रचना की जाती है, तथा गूढ़ और देशी शब्दों से रहित, सुललित पदों से गुंफित और रम्य ऐसा प्राकृत-काव्य किसके हृदय को आनन्द नहीं देता ? (महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा) धर्मोपदेशमालाविवरण में महाराष्ट्री भाषा की कामिनी और अटवी के साथ तुलना करते हुए उसे सुललित पदों से सम्पन्न, कामोत्पादक तथा सुन्दर वर्णों से शोभित बताया है।

प्राकृत के कथा ग्रन्थों में संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। अनेक स्थलों पर बीच-बीच में सूक्तियों अथवा अपभ्रंश को लिया गया है। देशी भाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द इस साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं। प्राकृत कथाओं के रचयिता प्रायः प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं पर समान पांडित्य रखते थे।

ईसवी सन् की नौवीं-दसवीं शताब्दी के पूर्व जैन आचार्यों के लिखे हुए प्राकृत कथा-ग्रन्थों की संख्या बहुत कम थी। लेकिन ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में विद्वानों में एक अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप दो-तीन सौ वर्षों के भीतर सैकड़ों अभिनव कथा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

ड) प्रमुख कथा ग्रन्थ

आचार्य पादलिप्त सूरि (दूसरी शती) कृत तरंगवई कहा (तरंगवती कथा) अनुपलब्ध होने से, इसी कथा ग्रन्थ को संक्षिप्त रूप में नेमिचन्द्र गणि ने लगभग एक हजार वर्ष बाद तरंगलोला नाम से एक कथा ग्रन्थ

नाम की रचना की जोकि एक अतिमहत्त्वपूर्ण कथा ग्रन्थ है।

वसुदेवहिण्डी (प्रथम खण्ड के रचयिता संघदास गणि तथा द्वितीय खण्ड के रचयिता धर्मदास गणि- चतुर्थ शती) एक सुप्रसिद्ध कथा ग्रन्थ है।

भारतीय कथाओं का स्रोतभूत यह ग्रन्थ विश्वकथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण वृत्तान्त का मुख्यतः वर्णन है। साथ ही विविध ज्ञानवर्धक एवं मनोरंजक आख्यानों, चरितों तथा ऐतिहासिक वृत्तान्तों का वर्णन किया गया है। इसी ग्रन्थ की आधार पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यद्यपि पैशाची प्राकृत भाषा में महाकवि गुणाडच द्वारा विरचित वसुदेवहिण्डी तो विश्वकथा साहित्य का अनमोल ग्रन्थ रहा है, किन्तु इस समय यह अनुपलब्ध है। इसी के आधार पर उपर्युक्त ग्रन्थ की रचना हुई। आचार्य हरिभद्र सूरि (आठवीं शती) प्रणीत समराइच्चकहा एवं धुत्तक्खाण (धूर्ताख्यान) प्रमुख कथा ग्रन्थ हैं।

आचार्य हरिभद्र के शिष्य दाक्षिणात्य उद्योतन सूरि (आठवीं शती) ने जालौर में कुवलयमाला कहा नामक एवं श्रेष्ठ बृहद् ग्रन्थ की रचना गद्य एवं पद्य दोनों शैली में की। इसीलिए कुछ विद्वान इस प्राकृत चम्पूकाव्य भी कहते हैं। कदली (केला) स्तम्भ की तरह इसमें मूल कथानक के साथ ही अनेक अवान्तर कथाएं भी गुम्फित हैं। १८ देशी भाषाओं सहित इसमें संस्कृत, विभिन्न प्राकृतों एवं अपभ्रंश के भी उद्गरण देखने को भी मिल जाते हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक अद्वितीय कथा ग्रन्थ है।

इसी तरह जिनेश्वर सूरि (११वीं शती) द्वारा रचित निव्वाण लीलावई कहा (निर्वाण लीलावती कथा) एवं कहाकोसपगरणं (कथाकोष प्रकरण), महेश्वरसूरि (११वीं शती) कृत नाणपंचमी कहा, गुणचन्द्रसूरि (देवभद्रसूरि - १२वीं शती) द्वारा गद्य-पद्य दोनों में रचित महारयणकोष, महेश्वर (महेन्द्र) सूरि कृत नम्पयासुन्दरीकहा, सोमप्रभसूरि

(१२वीं शती) द्वारा रचित कुमारवालवडिबोह (कुमारपाल प्रति-बोध), नेमिचन्द्रसूरि (१२वीं शती) विरचित आख्यानमणि कोश, जिनचन्द्रसूरि (१२वीं शती) कृत संवेगरंगशाला, सुमतिसूरि (१३वीं शती) द्वारा रचित जिनदत्ताख्यान, रत्नशेखरसूरि (१५वीं शती) द्वारा संकलित सिरिवालकहा, जिनहर्षसूरि (१५वीं शती) कृत रयणसेहरनिवकहा, वीरदेव गणि (१५वीं शती) कृत महिवालकहा, अज्ञातकृत पाइअकहासंगहो आदि प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त आरामसोहाकथा (सम्यक्त्वसप्तति में से उद्धृत), अंजनासुन्दरीकथा, अनन्तकीर्तिकथा, आर्द्रकुमारकथा, जयसुन्दरीकथा, भव्यसुन्दरी कथा, नरदेवकथा, पद्मश्रीकथा, पूजाष्टककथा, पृथ्वीचन्द्रकथा, प्रत्येकबुद्धकथा, ब्रह्मदत्ताकथा, वत्सराजकथा, विश्वसेनकुमारकथा, शंखकलावतीकथा, शीलवती-कथा, सर्वांगसुन्दरीकथा, सहस्रमल्लचौरकथा, सिद्धसेनदिवाकर-कथा, सुरसुन्दरनृपकथा, सुव्रतकथा, सुसमाकथा, सोमश्रीकथा, हरिश्चन्द्रकथानक आदि शताधिक कथाग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार तिथियों को लेकर मौन एकादशीकथा जैसी अनेक कथायें तथा गंडयस्सकथा, धर्मख्यानककोश, मंगलमालाकथा आदि संग्रह- कथायें उपलब्ध होती हैं।

वर्तमान युग (विशेषकर बीसवीं सदी) में भी प्राकृत कथा साहित्य लेखन की परम्परा जारी है। इनमें से मुख्यतः विजय कस्तूर सूरि विरचित पाइयविन्नाणकहा, चंदनमुनि विरचित रयणबालकहा, मुनि विमलकुमार विरचित पियंकरकहा, साध्वी कंचन कुमारी कृत पाइयकहाओ आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त प्रो. कमलचन्द सोगाणी, प्रो. राजाराम जैन, प्रो. प्रेमसुमन जैन, डॉ. उदयचन्द जैन, आचार्य सुनीलसागर जी विरचित अनेक प्राकृत कथायें उपलब्ध होती हैं।

च) महाराष्ट्री-प्राकृत के गद्य का उदाहरण

अमंगलियपुरिसस्स कहा

एगंमि नयरे एगो अमंगलियो मुद्धो पुरिसो आसि। सो एरिसो अत्थि, जो को वि पभायंमि तस्स मुहं पासेज्ज, सो भोयणं पि न लहेज्जा। पउरा पच्चूसे कया वि तस्स मुहं न पेक्खंति। नरवइणा वि अमंगलियपुरिसस्स वत्ता सुया। परिक्खत्थं नरिंदेण एगया पभायकाले सो आहूओ, तस्स मुहं दिट्ठं।

जया राया भोयणत्थमुवविसइ, कवलं च मुहे पक्खिवइ, तया अहिलंमि नयरे सहसा परचक्कभएण हलबोलो जाओ। तया नरवई वि भोयणं चइत्ता सहसा उत्थाय ससेण्णो नयराओ बहिं निग्गओ। भयकारणमदडूणं पुणो पडिआगओ समाणो नरिंदो चिंतेइ - “अस्स अमंगलिअस्स सरूवं मए पच्चक्खं दिट्ठं, तओ एसो हंतव्वो” एवं चिंतिऊण अमंगलियं बोल्लाविऊण वहत्थं चंडालस्स अप्पेइ।

जया एसो रुयंतो, सकम्मं निंदंतो चंडालेण सह गच्छइ। तया एगो कारुणिओ बुद्धिनिहाणो वहाइ नेइज्जमाणं तं दडूणं कारणं णच्चा तस्स रक्खणाय कण्णे किंपि कहिऊण उवायं दंसेइ। हरिसंतो जया वहत्थंभे ठविओ, तया चंडालेण सो पुच्छिओ- ‘जइजीवणं विणा तव कावि इच्छा सिया, तं मग्गसु त्ति’।

सो कहेइ - “मज्झ नरिंदमुहदंसणेच्छा अत्थि।” जया सो नरिंदसमीवमाणीओ तया नरिंदो तं पुच्छइ “किमेत्थ आगमणप-ओयणं ?”। सो कहेइ - “हे नरिंद ! पच्चूसे मम मुहस्स दंसणेण न लब्भइ, परन्तु तुम्हाणं मुहपेक्खणेण मम वहो भविस्सइ, तया पउरा किं कहिस्संति ? मम मुहाओ सिरिमंताणं मुहदंसणं केरिसफलयं संजायं, नायरा वि पभाए तुम्हाराणं मुहं कहां पासिहिरे।” एवं तस्स

वयणजुत्तीए संतुट्ठो नरिंदो वहाएसं निसेहिऊण पारितोसिअं च
दइअ तं अमंगलिअं संतोसी अ।

(हिन्दी अर्थ)

अमांगलिक पुरुष की कथा

एक नगर में एक अमांगलिक भोला पुरुष था। वह ऐसा था, कि जो कोई भी प्रातः काल में उसका मुंह देखता, उसे भोजन भी प्राप्त नहीं होता था। नागरिक लोग भी प्रातःकाल में कभी भी उसका मुंह नहीं देखते थे। राजा ने भी अमांगलिक पुरुष की वार्ता सुनी। परीक्षा लेने के लिए एक बार राजा ने प्रातःकाल में उसे बुलाया, उसका मुंह देखा।

जब राजा भोजन करने के लिए बैठता है और कवल (कौर) मुंह में डालता है, तभी सम्पूर्ण नगर में अचानक शत्रु के चक्र के भय से कोलाहल हो गया। तब राजा भोजन को छोड़कर अचानक उठकर सेना सहित नगर से बाहर निकला। भय के कारण को देखकर पुनः वापस आ गया और उदास/खिन्न होकर विचार करता है कि – “इस अमांगलिक पुरुष के स्वरूप को मैंने प्रत्यक्ष देख लिया, तभी यह हो गया है।” इस प्रकार विचार करके अमांगलिक को बुलवाकर उसका वध करने के लिए चाण्डाल को सौंप देता है।

जब वह रोता हुआ, अपने कर्म की निन्दा करता हुआ चाण्डाल के साथ जा रहा था, तब एक दयालु बुद्धिमान के द्वारा वध के लिए ले जाये जाते हुए, उसको देखकर और कारण को जानकर उसकी रक्षा के लिए उसके कान में कुछ कहकर उपाय बताता है। प्रसन्नता को प्राप्त हुआ जब वध के खम्भे पर उस अमांगलिक को खड़ा किया, तब चाण्डाल ने पूछा – “जीवन को छोड़कर तुम्हारी कोई इच्छा हो, तो मांगो”। वह कहता है – मुझे राजा के मुंह-दर्शन की इच्छा है। जब वह अमांगलिक पुरुष राजा के समीप लाया गया तब राजा-उसको पूछता

है— यहां किस प्रयोजन से आये हो ? वह कहता है — “हे राजन् प्रातःकाल में मेरे मुखदर्शन से भोजन प्राप्त नहीं होता, किन्तु आपके मुख को देखने से मेरा वध होगा, तब नागरिक जन क्या कहेंगे ? मेरे मुख से श्रीमानजी (आपके) के मुखदर्शन का कैसे फल प्राप्त हुआ। नागरिक जन भी प्रातःकाल आपके मुख को क्यों देखेंगे ?” इस प्रकार उसके युक्तिपूर्ण वचनों से संतुष्ट राजा ने वध के आदेश का निषेध (निरस्त) करके और पारितोषिक देकर उस अमांगलिक को संतुष्ट किया।

छ) महाराष्ट्री-गाथाओं के उदाहरण

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं अ जे ण आणन्ति।

कामस्स तत्तन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥गा०स० १.२॥

— जो अमृत रूप प्राकृत-काव्य को पढ़ना और सुनना नहीं जानते हैं और काम (शृङ्गार) की तत्त्वचिन्ता करते हैं, वे लज्जित क्यों नहीं होते ?।

पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह व छेयभणिएहिं।

उययस्स य वासिय-सीयलस्स तित्तिं न वच्चामो॥ वज्जा०२१॥

— प्राकृत-काव्य में जो रस (आनन्द) होता है, एवं निपुण (व्यक्तियों) की उक्ति पूर्ण वचनों से जो रस उत्पन्न होता है और सुगन्धित शीतल जल का आनन्द जो होता है, उसमें (हम सभी कभी) तृप्ति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

देसियसद्दपलोइं म्हुरक्खरछन्दसंठियं ललियं।

फुडवियडपायडत्थं पाइयकव्वं पढेयव्वं॥ वज्जा०२८॥

— अर्थात् देशी शब्दों से रचित तथा मधुर अक्षरों एवं छन्दों में स्थित (निबद्ध), विलास से पूर्ण, स्पष्ट, सुन्दर, प्रकट अर्थ वाले ललित प्राकृत काव्य पठनीय हैं।

पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मियं जेण।

ताहं चिय पणमामो पढिऊण य जे वियाणन्ति॥ वज्जा०३१॥

— प्राकृत काव्य को नमन और उनको, जिनके द्वारा प्राकृत काव्य बनाया (रचा) गया है — उन्हें नमस्कार है और जो पढ़कर उन्हें जान लेते हैं — उन्हें भी प्रणाम करते हैं।

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।

एंति समुदं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं॥ गउड० १३॥

— जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्प रूप से बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा में सब भाषाएं प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषाएं निकलती हैं।

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।

ण य गउणलक्खणससिंभवा ते इह णिबद्धा॥हेम०१.३॥

— जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न है और न संस्कृत-कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणा शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है, ऐसे शब्दों को देशी कहा जाता है।

अण्णे वि हु होन्ति छणा ण उणो दीआलिआसरिच्छादे।

जत्थ जहिच्छं गम्मइ पिअवसही दीवअमिसेण॥सर.क० ५.३१५॥

— उत्सव बहुत से हैं, पर दीपावली के समान कोई उत्सव नहीं हैं। इस अवसर पर इच्छानुसार कहीं भी जा सकते हैं और दीपक जलाने के बहाने अपने प्रिय की वसति में प्रवेश कर सकते हैं।

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।

पाआवलिया वि तह तह धारं तणुअंपि तनुएइ॥

— गाथासप्तशती, २/६१

— ऊपर की ओर नयन उठाकर हाथ की अंगुलियों को विरलकर पथिक पानी पिलाने वाली के सौन्दर्य का पान करने के लिए, बहुत देर

तक पानी पीता है, प्याऊ पर बैठ कर पानी पिलानेवाली सुन्दरी भी पानी की धार को कम-कम करती जाती है।

णेहभरियं सभ्भावणिभ्रं रूव-गुणमहग्घवियं।

समसुह-दक्खं जस्सऽत्थि माणुसं सो सुहं जियइ॥

— चउप्पन्नमहापुरिसचरित, गा. २६

— स्नेहपूरित, सद्भावयुक्त और रूप-गुणों से सुशोभित नारी पति के सुख-दुःख में समान रूप से भाग लेती है, इस प्रकार की नारी को प्राप्त कर मनुष्य सुख और शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करता है।

वरजुवइविलसिणीणं गंधव्वेण च एत्थ लोयम्मि।

जस्स न हीरइ हिययं सो पसुओ अहव पुण देवा॥

— नागपंचमीकहा १०/२९४

— सुन्दर युवतियों के हाव-भाव से अथवा संगीत के मधुर आलाप से जिसका हृदय मुग्ध नहीं होता वह या तो पशु है अथवा देवता। संगीत, काव्य और रमणियों के हाव-भाव मानव-मात्र को रससिक्त बनाने की क्षमता रखते हैं।

जं जि खमेइ समत्थो, धणवंतो जं न गव्वमुव्वहइ।

जं च सविज्जो नमिरो, तिसु तेसु अलंकिया पुहवी॥ वज्जा० ८७॥

— सामर्थ्यवान् वही जो क्षमा करे, धनवान् वही जो गर्व न करे, विद्वान् वही जो विनम्र हो — इन तीनों से ही पृथ्वी अलंकृत होती है।

किसिणिज्जंति लयंता उदहिजलं जलहरा पयत्तेण।

धवली हुंती हु देंता, देंतलयन्तन्तरं पेच्छ॥ वज्जा० १३७॥

— बादल समुद्र से जल लेने में काले (श्यामल) पड़ जाते हैं और जल देने में अर्थात् वर्षा हो जाने के उपरान्त धवल (उज्ज्वल) हो जाते हैं; देने और लेने वाले का यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है।

६. पैशाची प्राकृत

पैशाची एक बहुत ही प्राचीन प्राकृत है। यह किसी प्रदेश विशेष की भाषा नहीं थी, अपितु जन-जाति विशेष की भाषा थी। मुख्यतः यह जन-जाति कैकय, शूरसेन, पाण्ड्य, काञ्ची और पांचाल में निवास करती रही होगी या भ्रमण करती रही होगी। इसका प्रचार भी इन्हीं प्रदेशों में रहा। सम्भवतः यह भ्रमणशील जाति भारत में आधुनिक बंजारों और हंगरी में जिप्सी जातियों की पूर्वज रही हो।

देश के उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के कुछ भाग को पैशाच देश भी कहा जाता रहा है। मार्कण्डेय ने इसे शूरसेन और पांचाल की भाषा कहा है। वाग्भट्ट ने पैशाची को भूतभाषा कहा है। इसके अनुसार यह पिशाच जाति के लोगों की भाषा थी।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची का आदिम स्थान उत्तर-पश्चिम पंजाब अथवा अफगानिस्तान प्रान्त है। यहीं से इस भाषा का विस्तार अन्यत्र हुआ है। पिशाच, शक और यवनों के मेल की एक जाति थी, जिसका निवास स्थान सम्भवतः भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहा है, उन्हीं की बोली का आधार पैशाची प्राकृत है। वैसे भी पंजाब, सिन्ध, ब्यूचिस्तान और कश्मीर की भाषाओं पर इसका प्रभाव आज भी दिखता है।

चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी शिलालेख तथा उद्योतनसूरि रचित कुवलयमाला कथा में इसकी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची भाषा की प्रमुख रचना थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके रूपान्तर उपलब्ध हैं।

क) पैशाची की सामान्य विशेषतायें

१. पैशाची में अनादि तीसरे और चौथे वर्णों के स्थान पर उसी वर्ण के पहले और दूसरे वर्ण हो जाते हैं। यथा — गकनं = गगनम्, मेखो = मेघः, राचा = राजा।

२. ज्ञ और न्य को उ, ज, जं, ण को न होता है।

३. क्रियाओं में दि और दे के स्थान पर ति और ते।
४. क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तून, त्थुन और द्धून पैशाची की प्रमुख विशेषताएँ हैं।
५. इसमें मध्यवर्ती क, ग, च आदि वर्णों का लोप नहीं होता।
६. ष्ट के स्थान पर सट जैसे कष्ट > कसट, र्य के स्थान पर रिय और स्नान के स्न को सन आदेश होता है। सिनान जैसे – स्नान: सिनान
७. प्राकृत की प्राचीन प्रवृत्ति की तरह स्वरों के मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, य् और व् का लोप नहीं होता। जैसे लोक > लोक, इंगार > अंगार।

नृसिंह शास्त्री कृत “प्राकृत शब्द प्रदीपिका” (प्रकाशक – उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, १९९२) के अनुसार पैशाची प्राकृत की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं – नोण नो पैशाच्याम् – इस सूत्र के अनुसार ण को न तथा न्यण्यज्ञां ज् र सूत्र के अनुसार ज् र को द्वित्व होता है। जैसे धन्यः > धञ्जो, प्राज्ञः > पञ्जो, गण्यः > गञ्जो।

अन्य विशेषताएं – त य द को त (मदः > मतो)। दृ को ति (यादृशः > यातिसो)। र्य, स्न, ष्ट को क्रमशः रिअ, सिन, सिट आदेश होता है। टु को तु विकल्प से होता है – कटुकः > कतुको, कटुको। श और ष को स (शेषः > सेसो), ष्ट्व को ट्ठून, त्थून आदेश (कृष्ट्वा > कट्ठून, कत्थून)। शेष शौरसेनी की तरह।

ख) पैशाची प्राकृत का उदाहरण

यति अरिह-परममंतो पढिय्यते कीरते न जीवबधो।

यातिस-तातिस-जाती ततो जनो निव्वुतिं याति॥

अर्थात् यदि कोई अर्हत के परम मन्त्र का पाठ करता है, जीव-वध नहीं करता, तो ऐसी-वैसी जाति का होता हुआ भी वह निर्वृति को प्राप्त होता है। (कुमारवालचरियं, सर्ग ८)

७. चूलिका पैशाची प्राकृत

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (प्रा. भा. सा. आलो. इति., पृ. ९४) के अनुसार — चूलिका पैशाची, पैशाची का ही एक भेद है। इसका सम्बन्ध सम्भवतः “शूलिग” अर्थात् काशगर से माना जाय तो अनुचित न होगा। उस प्रदेश के समीपवर्ती चीनी, तुर्किस्तान से मिले हुए पट्टिका लेखों में इसकी विशेषतायें पायी जाती हैं। चूलिका पैशाची के कुछ उदाहरण हेमचन्द्र के कुमारपाल और जयसिंह सूरि के हम्मीर-मर्दन नामक नाटक तथा षड्भाषा स्तोत्रों में पाये जाते हैं।

क) चूलिका की भाषागत सामान्य विशेषतायें

कुछ विद्वानों ने चूलिका पैशाची को पैशाची का ही भेद माना है, जबकि कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। पैशाची से इसमें थोड़ा ही अन्तर है। पैशाची की अपेक्षा चूलिका में र के स्थान पर विकल्प से ल होता है। जैसे — राजा > लाचा, चरण > चलन, गोरी > गोली। इसी तरह भ् को फ् आदेश होता है। जैसे — भवति > फोति।

“प्राकृत शब्द प्रदीपिका” (नृसिंह शास्त्री कृत) के अनुसार चूलिका पैशाची प्राकृत की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

रोलस्तु चूलिका पैशाच्याम् - इस सूत्र के अनुसार र को ल (विकल्प से) होता है — रामः > लामो, रामो।

गजडजवधझड़धभां कचटतपखछठथफाल् - इस सूत्र से क्रमशः १. ग को क (नगः > नको, मार्गणः > मक्कनो)।

२. ज हो च (राजा > राचा, लाचा)।

३. ड को ट (डमरुकः > टमरुको, टमलुको)।

४. द को त (मदनः > मतनो)

५. ब को प (बालकः > पालको)।

६. घ को ख (मेघः > मेखो)
७. झ को छ (झरः > छलो, छरो)।
८. ढ को ठ (गाढम् > काठं)।
९. ध को थ (धारा > थारा),
१०. भ को फ (रम्भा > रंफा, लंभा)। प्रतिमा को पटिमा, पडिमा।
शेष पैशाची की तरह।

ख) चूलिका पैशाची का उदाहरण -

आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल चरित के अंतिम दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषा के नियम उदाहरण सहित समझाये हैं। यहाँ प्रस्तुत है चूलिका पैशाची की गाथा का यह उदाहरण -

झज्झर-डमरूक-भेरी-ढक्का-जीमूत-घोसा वि।

बहानियोजितमप्यं जस्स न दोलिनत्ति सो धञ्जो॥१॥

अर्थात् झज्झर, डमरूस, भेरी और पटह इनका मेघ के समान गम्भीर घोष भी जिसकी ब्रह्म-नियोजित आत्मा को दोलायमान नहीं करता, वह धन्य है।

८. अपभ्रंश भाषा

परिचय - अपभ्रंश प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की मध्यवर्ती भाषा है अर्थात् आधुनिक आर्यभाषाओं की पूर्व की भारतीय आर्यभाषा की कड़ी का नाम अपभ्रंश है।

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाता है कि प्राकृत की अन्तिम अवस्था अपभ्रंश है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से प्राकृतों से अपभ्रंश का पार्थक्य स्पष्ट है।

क) अपभ्रंश उद्भव और विकास

अपभ्रंश मूलतः सिन्धु प्रदेश से लेकर बंगाल तक की जनबोली थी। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा की विकृति या विच्युति (गिरने) का आशय उसके विकास से है। भरत मुनि ने जिस उकार बहुला भाषा का उल्लेख किया है और जो हिमाचल से सिन्ध तथा पंजाब तक बोली जाती थी, वह उकार बहुला और कोई भाषा नहीं अपितु वह अपभ्रंश ही है। भरत मुनि ने लिखा है —

हिमवत्सिन्धु सौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।

उकार बहुला तज्जस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥ नाट्यशास्त्र ६/६२॥

इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। पहले प्राकृत को भी अपभ्रंश कहा जाता था — प्राकृत-मेवापभ्रंशः। संस्कृतेतर भाषायें भी अपभ्रंश कहलाती थी। कालान्तर में प्राकृत साहित्य की भाषा हो गई और वे रूढ़ हो गयीं। उनका सम्बन्ध धीरे-धीरे जनबोली से दूर होता गया। प्राकृतों की इसी परम्परा में जनबोली का विकास होता रहा और उस विकसित अवस्था को अपभ्रंश कहा गया। अर्थात् जनभाषा के रूप में प्रचलित इन्हीं प्राकृतों में से एक अन्य भाषा का जन्म हुआ, विद्वानों ने जिसका “अपभ्रंश” नाम दिया। विक्रम की ७वीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और बाद में वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी। (अपभ्रंश भाषा और व्याकरण, पृ. २७)

वस्तुतः भाषायें कभी विकृत नहीं होतीं, अपितु उनमें देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, जो कि उनके विकास की ही सूचक है। वैसे भी विकार, विकास और परिवर्तन का सूचक है। जैसे दूध का दही रूप में परिवर्तन, दूध के विकास में ही परिचायक है। तभी तो हमें मक्खन की प्राप्ति सम्भव होगी। भाषा के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि किसी भी भाषा का गतिहीन होना उसकी अस्वाभाविकता

का सूचक है और परिवर्तित, विकसित या विकृत होना उसके जीवित रहने का प्रमाण है। तभी तो महाकवि कालिदास ने विकृति को ही जीवित कहा है – “मरणं प्रकृतिः शरीरिणां िकृति- जीवितमुच्यते”। (सधुवंश ८/८७)

मध्यकालीन आर्य भाषाओं में प्राकृत, पालि जैसे नाम तो गरिमायुक्त लगते हैं किन्तु “अपभ्रंश” यह शब्द ही कुछ विपरीत मनःस्थिति का बोध कराता है। क्योंकि संस्कृत कोशों और सामान्य अर्थ में भी “अपभ्रंश” शब्द अपभ्रष्ट अर्थात् बिगड़े हुए शब्दों वाली भाषा का बोध कराते हैं। जबकि यह एक भाषा विकास की सामान्य और स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्र ही है। वस्तुतः संस्कृत एक परिमार्जित, सुसंस्कृत एवं व्याकरणादि नियमों से आबद्ध भाषा है। अतः ‘अपभ्रंशोऽशब्दः स्यात्’ इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत के विशिष्ट मानदण्ड से जो शब्द स्खलित अर्थात् च्युत हो जायें उन्हें अपभ्रंश मान लिया जाता था।

वस्तुतः लगता है कि प्रारम्भिक काल में लोक बोलियों आदि में प्रयुक्त शब्दों के लिए “अपभ्रंश” इस शब्द का प्रयोग कर देते होंगे। बाद में जब इन्हीं बोलियों आदि में श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा उत्कृष्ट साहित्य निर्मित होने लगा। तब संभवतः इसी साहित्यिक भाषा को अपभ्रंश यह नाम दे दिया होगा। और “अपभ्रंश” इस नाम से ही इसे राष्ट्रव्यापी सम्मान प्राप्त होने लगा, अनेक सम्प्रदायों के विद्वान् इसमें साहित्य रचना करने लगे, तब यह भाषा इसी नाम से लोकप्रिय और प्रसिद्ध हो गयी।

(ख) अवहट्ट और अपभ्रंश – अपभ्रंश के लिए देशीभाषा, अवहट्ट (ट्ट), के अतिरिक्त अवहंस, अवब्भंस जैसे शब्दों का प्रयोग भी प्राचीन पुस्तकों में प्राप्त होता है। उद्योतनसूरि की ‘कुवलयमाला कहा’ में ‘अवहंस’ के विषय में प्रश्न किया गया है कि वह क्या है – “ता किं अवहंस होइ?” फिर उत्तर देते हुए कहा गया है कि वह शुद्ध हो या अशुद्ध प्रतिहत धारा में प्रवाहित होती हुई प्रणयकुपित प्रियमानिनी के

संलाप की तरह मनोहर हो। महापुराण में भी अवहंस शब्द है। महाकवि स्वयंभू ने भी 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग किया है। 'अवहट्ट' शब्द अपभ्रंश का ही परवर्ती रूप प्रतीत होता है न कि अलग भाषा का रूप। मैथिल कवि विद्यापति भी कीर्तिलता में कहते हैं – “देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जंपओ अवहट्ठा।”

ग) भाषा विकास की सामान्य प्रक्रिया है : अपभ्रंश

इस प्रकार यह अपभ्रंश विभिन्न क्षेत्रीय या भौगोलिक कारणों से अनेक नामों से अभिहित की गई है। वस्तुतः प्राकृत के बाद अपभ्रंश भाषा का प्रचलन भाषा-विकास की एक सामान्य प्रक्रिया है। वर्ण विकार एवं लोप की जिन प्रवृत्तियों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है, वे अपभ्रंश में अपनी चरमसीमा पर पहुंच गयी क्योंकि अपभ्रंश भाषा में कोमलता अधिक है।

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ नामक अपनी पुस्तक (पृ. ३९) में लिखा है कि यद्यपि बहुत पहले प्राकृत को भी अपभ्रंश कहा जाता था, क्योंकि संस्कृत को छोड़कर जितनी भी भाषायें थी, वे सब अपभ्रंश कहलाती थीं। किन्तु प्राकृत भाषा के साहित्यिक स्थान पर आरूढ़ हो जाने पर मूल बोली को प्राकृत तथा साहित्य की भाषा को भी मूल बोली से सम्बद्ध होने के कारण प्राकृत कहा गया। प्राकृत की इस परम्परा में ही, जब प्राकृते लोकबोलियों से हटने लगीं तब जिस विकसित अवस्था का स्वरूप देखने को मिला, उसे अपभ्रंश नाम दिया गया। भाषा विकास की यह वह अवस्था थी, जिसमें भारतीय आर्यभाषा अपनी संयोगावस्था से वियोगावस्था में संक्रमित होने लगी थी।

घ) भाषा-विकास के मूल में देशी भाषायें और अपभ्रंश

वस्तुतः प्रत्येक युग में साहित्य-रूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी अवश्य रही है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा

को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है। छान्दस की भाषा ने तत्कालीन देशी-भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप ग्रहण किया। अवसर आने पर प्राकृत को भी अपनी आन्तरिक रूढ़ि दूर करने के लिए लोक-भाषा की सहायता लेनी पड़ी। फलतः भारतीय आर्य भाषा की अपभ्रंश अवस्था उत्पन्न हुई, जिसने आगे चलकर सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि आधुनिक देशी भाषाओं को जन्म दिया।

विकास के इस क्रम में ऐसी अवस्था आती है जब आरम्भिक देशी भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा बन जाती है और वैयाकरण लोग उसका नियम लिखते समय शिष्टों के प्रयोग को सामने रखते हैं। जिस अपभ्रंश को महाकवि स्वयंभू ने 'गामिल्लभास' कहा था, उसे ११वीं शताब्दी के वैयाकरण पुरुषोत्तम ने शिष्टों के प्रयोग से जानने की सलाह दी थी। (अपभ्रंश भाषा और व्याकरण, पृ. ३६)

जैसे साधारण वेशभूषा वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने गृहकार्यों को बड़ी खूबी से निबटाती हैं, जबकि उस प्रकार नख से शिखा तक अलंकृत-मर्यादित महिलाएं नहीं निबटा पातीं; इसी प्रकार अलंकृत प्राकृत-भाषा भी जनोपयोगी कार्यों के लिए कारगर सिद्ध न होने से शनैः-शनैः व्यावहारिकता से तटस्थ होती चली गई। फलतः, उसकी जगह कार्य-व्यवहार के क्षेत्र में अपभ्रंश भाषा ने जन्म लिया। जब अपभ्रंश भाषा भी क्रम-क्रम से सौष्ठव-बुद्धि और साहित्यिक संस्कारों से उद्भासित होकर शास्त्रीय भाषा बन गई, तब व्यवहार के लिए उसी अपभ्रंश के आधार पर प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई, ऐसा प्रायः सभी भाषा तत्त्ववेत्ता जानते और मानते हैं।

इस प्रकार लोकभाषा की परम्परा के रूप में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को अपनी परम्परागत शृंखला से जोड़ने वाली भाषा का नाम अपभ्रंश है।

जिस समय प्राकृत और अपभ्रंश शास्त्रीय भाषा बनीं, उसी समय हेमचन्द्राचार्य (सन् ११५० ई.) ने प्राकृत के व्याकरण और कोश की रचना की। इसीलिए उन्होंने इन दोनों रचनाओं के अन्त में अपभ्रंश के नियम और संस्कार भी संग्रहीत किये हैं। वस्तुतः अपभ्रंश का साहित्यिक ढाँचा प्राकृतों का होने से भाषा और साहित्य रूपों पर प्राकृतों का अत्यधिक प्रभाव है। उसमें प्राकृतों की प्रायः सभी विशेषतायें प्राप्त हैं। परन्तु मुख्य रूप से यह शौरसेनी के अनुसार विकसित हुई हैं। (प्रायः शौरसेनीवत् कार्य भवति – हेम ४/४४६)।

ड) अपभ्रंश भाषा के भेद

सामान्यतया अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी – ये दो भेद किए गये हैं। विद्वान् पूर्वी अपभ्रंश को मागधी से तथा पश्चिमी अपभ्रंश को शौरसेनी और महाराष्ट्री से जोड़ते हैं।

मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व नामक अपने प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ में अपभ्रंश के सत्ताईस भेद गिनाए हैं- ब्राचड, लाटी, वैदभी, उपनागर, नागर, बार्बर, आवंति, पंचाली, टाक्क, मालवी, कैकयी, गौड़ी, कौन्तेली, औड़ी, पाश्चात्या, पाण्ड्या, कौन्तली, सँहली, कलिंगी, प्राच्या, कार्णाटी, कांची, द्राविडी, गौर्जरी, आभीरी, मध्यदेशिया एवं वैतालिका।

भाषा-वैज्ञानिकों ने प्राकृत के सन्दर्भ में अपभ्रंश के जो भेद किए हैं, वे इस प्रकार हैं – १. शौरसेनी अपभ्रंश, २. मागधी अपभ्रंश, ३. अर्धमागधी अपभ्रंश, ४. महाराष्ट्री अपभ्रंश, ५. पैशाची अपभ्रंश। कुछ विद्वान् जिन भेदों को अधिक उपयुक्त मानते हैं वे हैं – १. नागर अपभ्रंश, २. ब्राचड अपभ्रंश, ३. उपनागर अपभ्रंश।

इसमें नागर अपभ्रंश का क्षेत्र गुजरात, ब्राचड अपभ्रंश का क्षेत्र सिन्ध प्रान्त की बोली और उपनागर अपभ्रंश का क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान, पंजाब माना जाता है।

इस प्रकार इन सब भेद-प्रभेदों और पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंशों और समकालीन जनभाषाओं (प्राकृतों) से ही विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। विशेषकर वर्तमान हिन्दी भाषा इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से सीधे प्रभावित और उत्पन्न हैं। आधुनिक आर्य-भाषाओं के नामों की झलक हमें अपभ्रंशों के नामों से भी प्राप्त हो जाती है। इसलिए अपभ्रंश को मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना गया है।

च) अपभ्रंश की सामान्य विशेषतायें

१. उकार बहुलता अपभ्रंश की प्रमुख विशेषता है।
२. इसमें लिंग भेद प्रायः समाप्त हो गया।
३. सर्वनाम के रूपों में अल्पता दिखलाई देती है।
४. आद्य स्वर को पूरी तरह सुरक्षित रखना। अन्त्य स्वरों का हास।
५. उपान्त्य स्वरों की मात्रा सुरक्षित।
६. समीपवर्ती स्वरों में संकोच के साथ विस्तार।
७. अ, इ, उ, एँ और ओँ - ये पाँच ह्रस्व स्वर और आ, ई, ऊ, ए, ओ - ये दीर्घ पांच स्वर माने गये हैं। किन्तु यहाँ ऋ, लृ, ऐ और औ स्वरों का अभाव है।
८. आद्य व्यंजनों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति।
९. आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा द्वित्व व्यंजनों के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग।
१०. क्रियाओं का अर्थ व्यक्त करने के लिये कृदन्तरूपों का अधिक प्रयोग।
११. आत्मनेपद का सर्वथा अभाव।
१२. क्त्वा प्रत्यय के रूप - कृ धातु के साथ कर + ईउ + करिउ, कर + इवी-करिवि, कर + एप्पि-केरप्पि, कर + एवीण-केरविणु आदि द्रष्टव्य हैं।

छ) अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि में सभी परम्पराओं का योग

विविधताओं से युक्त अपभ्रंश साहित्य चरितकाव्य, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य, रासो काव्य आदि रूपों में बहुत विशाल है। डॉ. राजमणि शर्मा ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य नामक पुस्तक में लिखा है – अपभ्रंश साहित्य में केवल जैन ही नहीं अपितु सामान्य की संवेदना के संवाहक नाथ सिद्ध और योगी तथा साधक भी हैं जिन्होंने अपने वचनों से, अपनी वाणी से अपेक्षित हिन्दू जाति के एक बड़े वर्ग को स्वावलम्बी बनाया। उनमें जीवन जीने की ललक तथा संघर्ष की अटूट क्षमता भरी।

अपभ्रंश की यह विशेषता है कि बौद्ध सिद्धों, शैवों आदि अनेक परम्परा के विद्वानों ने भी अपभ्रंश में रचनायें लिखकर इस भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना योगदान दिया है। बौद्ध वज्रयान की एक शाखा सहजयान के सिद्धचौरासी के रूप में प्रसिद्ध साधकों में सरहपा एवं कणहपा के दोहा-कोष तथा गीत अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध होते हैं।

इसी तरह कश्मीर शैव सम्प्रदाय की कुछ कृतियाँ अपभ्रंश में प्राप्त होती हैं। इनमें से अभिनव गुप्त (१०१४ ई.) का तन्त्रसार, भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य (११वीं शती) के जन्ममरण विचार में एक दोहा-छन्द, शीतिकण्ठाचार्य कृत 'महानयप्रकाश' में अपभ्रंश के १४ छंद हैं। इतना ही नहीं कालिदास के विक्रमोर्वशीयम्, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण एवं शृंगारप्रकाश, रुद्रट के काव्यालंकार आदि में भी अपभ्रंश के छन्द मिलते हैं।

अब्दुर्रहमान कृत संदेशरासक, विद्यापति कृत कीर्तिलता, चन्द्रबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो आदि अनेक ग्रन्थ परवर्ती अपभ्रंश के अच्छे उदाहरण हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषा की तरह अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य के विकास में भी मात्र जैनों का ही नहीं अपितु अन्य अनेक परम्पराओं के विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैन कवियों और मुनियों ने लोक-कथा को आधार मानकर कथा-काव्यों और रचित काव्यों की रचना की। साथ ही मुनियों की अनुभूति ने अपभ्रंश में रहस्यवादी काव्य के स्वरूप को आधार प्रदान किया। परिणाम यह हुआ कि पहली बार प्रभूत मात्रा में साहित्य की रचना तो हुई ही, साथ ही काव्य रूप की दृष्टि से भी भारतीय वाङ्मय समृद्ध हो उठा।

महाकाव्यों और खंडकाव्यों की परम्परा में जैन मतावलम्बी महाकवि स्वयम्भू और धनपाल का अविस्मरणीय योदान है। इन रचनाकारों ने दोहा और चौपाई का सहारा लेकर नये काव्य रूप का विकास किया। यही काव्य-रूप सगुण भक्ति धारा के तुलसीदास और प्रेमाश्रयी शाखा के कुतुबन, मंझन और जायसी में मिल जाता है। यह परम्परा रीतिकाल की यात्रा पूरी करते हुए आधुनिक काल में प्रवेश पायी।

जैन कवियों ने जहाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों को अपने काव्य का नायक बनाया, वहीं लोकजीवन से भी नायक और नायिकाओं का चयन किया और हिन्दी काव्य-परम्परा को चारित्रिक विधान का एक ठोस आधार प्रदान किया। यह आधार भक्ति-काल से होते हुए आधुनिक काल और समकालीन युग तक, यथावत् विद्यमान है।

अपभ्रंश साहित्य में रासक ग्रन्थों की भी संख्या हजारों में है। अपभ्रंश साहित्य एक साथ कई मोर्चों पर संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ा। अपभ्रंश को पालि-प्राकृत के समान बहुत अधिक राजकीय संरक्षण भी प्राप्त नहीं था। अतः अपभ्रंश के विकास एवं प्रचार-प्रसार का अत्यधिक उत्तरदायित्व गुर्जर-आभीरादि जातियों एवं जैनाचार्यों के कन्धे पर था। इनके व्यापक एवं पर्याप्त जन समर्थन ने एवं अपभ्रंश की अपनी आन्तरिक ऊर्जा एवं प्राणवायु ने ही अपभ्रंश को संस्कृत एवं अन्य समकालीन भाषाओं के समक्ष प्रतिष्ठित किया।

ज) अपभ्रंश साहित्य में जनवादी स्वर

अपभ्रंश साहित्य में प्रबन्ध काव्य, खण्डकाव्य के साथ-साथ मुक्तक रचनाएँ भी सामने आयीं। नाथों और सिद्धों द्वारा लिखित साहित्य की अगुवाई सरहपा और कणहपा जैसे सिद्धों / रचनाकारों ने की। इसमें केवल उपदेश ही नहीं है अपितु सामाजिक कुरीतियों, विडम्बनाओं, विरूप परम्पराओं पर करारा प्रहार किया गया है, साथ ही नयी सामाजिक व्यवस्था को स्वरूप देने का प्रयास भी लक्षित होता है।

अपभ्रंश भाषा की लोकप्रियता इतनी व्यापक हुई कि बौद्धों, शैवों आदि परम्परा के संतों के साथ ही बारहवीं शती के अर्दुरहमान एवं विद्यापति आदि ने इसे अपनाकर इसकी व्यापकता और चमकाया। इतना ही नहीं यदि भारत में जनवादी का आधार खोजा जाए तो वह आधार इन्हीं रचनाओं में मिलेगा। भक्तिकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा, जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं – कबीर, रैदास, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि और उनका भी आधार है यह नाथ सिद्ध साहित्य।

अपभ्रंश के क्रान्तिदर्शी कवियों का मुख्य उद्देश्य सामान्यजन की भाषा में लोक जीवन की जीवन्त परम्पराओं को ग्रहण करते हुए जन सामान्य के मध्य अपने अभीष्ट सन्देशों का प्रचार करना था। अर्दुरहमान ने 'सन्देशरासक' में स्वयं ही ग्रन्थ के सन्दर्भ में लिखा है कि उन्होंने यह रचना ऐसे समाज के लिए की है, जो न तो अधिक बुद्धिजनों का हो और न ही मूर्खों का –

णहु रहइ बुहह कुकवित्त रेसु

अवहत्तिणि अबुहह णहु पवेसुं।

जिण मुख्ख ण पण्डिय मज्झयार

तिह पुरउ पढिब्बउ सब्बवार।। संदेश रा० १/२१।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन साहित्यकारों के लिए अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी के विकास में चाहे वह भाषिक हो या साहित्यिक, ऐतिहासिक महत्त्व रहा है।

झ) अपभ्रंश के प्रति बढ़ता सम्मान

प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के लालित्य तथा माधुर्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचारधारायें हैं। महाभाष्यकार पतंजलि तो इस प्रकार के विकृत शब्दों के प्रयोग के सर्वथा विरुद्ध हैं। वे तो इस प्रकार के रूपों को शब्द कहने में भी संकोच करते हैं। उन्होंने इनको अपशब्द की संज्ञा दी है। उनके विचार से शब्द कम हैं और अपशब्द बहुत अधिक हैं। एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं।

जैसे — गौः इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार महर्षि पतंजलि प्राकृत पदों के पक्ष में नहीं प्रतीत होते। पर एक दूसरे आचार्य का विचार है कि — ‘संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश भाषणम्’। अर्थात् संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और प्राकृत से भी अपभ्रंश भाषा अधिक मधुर तथा श्रेष्ठ है।

वृद्ध वाग्भट्ट अपभ्रंश शब्दों को अशुद्ध या अपशब्दों के रूप में नहीं स्वीकार करते और अपभ्रंश शब्द से उन भाषाओं को ग्रहण करते हैं, जो अपने अपने देशों में बोली जाती थीं — ‘अपभ्रंश स्तुयच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्’ अर्थात् शुद्ध अपभ्रंश वह भाषा है जो अपने-अपने प्रान्तों या देशों में बोली जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश पदों के प्रति जो उपेक्षा-भाव महाभाष्यकार को था, वह वृद्ध वाग्भट्ट में नहीं रहा और वे अपभ्रंश को भी शुद्ध ही मानते हैं।

राजशेखर ने (बाल रामायण में) संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभाव मधुर, अपभ्रंश को सुभय्य और भूतभाषा को सरस कहा है। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषा निरन्तर लोकमान्य होती गई और इसमें प्रायः सभी परम्पराओं के विद्वान् ग्रन्थ रचना करके गौरव का अनुभव करते हुए इसे सम्मान प्रदान करते रहे।

ज) हिन्दी का प्राचीन स्वरूप है : अपभ्रंश

हिन्दी भाषा, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का ही विकसित स्वरूप है। इसीलिए ये हिन्दी की जननी मानी जाती हैं। अपनी इन जननी स्वरूप भाषाओं के तत्त्वों को हिन्दी ने आत्मसात किया। यही कारण है कि प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में इसके तत्त्व आसानी से खोजे जा सकते हैं। किन्तु हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रंश के सीधे योगदान का इसलिए अधिक महत्त्व दिया जाता है, चूंकि हिन्दी अपभ्रंश के तत्काल बाद की इसी से विकसित भाषा है।

शब्द एवं धातु रूपों में नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिन्दी तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास की आधार भूमि उपस्थित कर दी है। अपभ्रंश का साहित्यिक क्षेत्र मध्यदेश है। जो कि हिन्दी का जन्म स्थान है। यह हिन्दी के विकास की पूर्व पीठिका है। इसलिए सुप्रसिद्ध पंडित राहुल सांकृत्यायन अपभ्रंश को हिन्दी का प्राचीन रूप मानते हैं।

अपभ्रंश में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। विशुद्ध अपभ्रंश के रूप में और लोकप्रचलित देशी भाषा में। यह देशी भाषा ही अपभ्रंश का लोक प्रचलित रूप था, पर हिन्दी के प्राचीन रूप में और देशी भाषा में कठिनाई से अन्तर किया जा सकता है। अतः लोक प्रचलित अपभ्रंश (देशी भाषा) में रचना करने वाले विद्वानों की रचनाओं को प्राचीन हिन्दी स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। (हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. १८)

किन्तु बाद में प्राकृत की भांति अपभ्रंश भाषा भी व्याकरण के नियमों आबद्ध होकर केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी। फिर भी उसका स्वाभाविक प्रवाह चलता रहा। क्रमशः वह भाषा एक ऐसी अवस्था में पहुंची, जो कुछ अंशों में तो हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलता है और कुछ अंशों में अपभ्रंश से।

आधुनिक हिन्दी भाषा और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था कभी-कभी 'अवहट्ट' कही गई है। कुछ विद्वानों ने इसे पुरानी हिन्दी नाम भी दिया है। यद्यपि इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश का कब अन्त होता है और पुरानी हिन्दी का कहीं से आरम्भ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है। (हिन्दी भाषा का संक्षिप्त इतिहास, पृ. ६)

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (पुरानी हिन्दी-भूमिका, पृ. ९) ने विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक की भाषा को अपभ्रंश और इसके बाद की भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है। इनके अनुसार इतने काल तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। उन्होंने पुरानी हिन्दी वाले भाषा-स्वरूप में देशी शब्दों की प्रधानता देखी है, विभक्तियों को घिसी हुई देखा है, कारकों में किसी एक कारक का, अन्य कारकों के रूपों तक विस्तार पाया है। अविभक्तिक पद विकसित होते हैं। विभक्तियों के घिस जाने के कारण कई अव्यय या पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे विभक्त्यर्थ प्रयुक्त होने लगे हैं। क्रियापदों का भी सरलीकरण हुआ है।

इनके अनुसार अपभ्रंश ने न केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद लिए, अपितु धनवती अपुत्रा मौसी (संस्कृत) से भी कई तत्सम पद लिए। (गुलेरी रचनावली, पृ. २४) इस प्रकार पुरानी हिन्दी अथवा परवर्ती अपभ्रंश में प्राकृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम पद गृहीत हुए हैं। संस्कृत के ऐसे पद उन्हीं स्थलों पर आते हैं, जहां प्राकृत में तद्भव प्रयोग अधिक घिस गये हैं। गुलेरी जी की मान्यता में शौरसेनी प्राकृत और भूतभाषा (पैशाची प्राकृत) की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिन्दी की भूमि है।

वे प्राकृत, अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी की देश-व्यापकता में

सामान्य प्रवृत्तियों को मुख्य तथा देशभेद को गौण मानते हैं। इसीलिए वे अन्तर्वेद (गंगा-जमुना के बीच का देश), ब्रज, दक्षिणी, पंजाब, टक्क (टांक, दक्षिण-पश्चिमी पंजाब), भादानक (राजपूताना), मरुभूमि, अवंती, पारियात्र (बेतवा और चम्बल का निकास), दशपुर (मंदसौर) और सौराष्ट्र सर्वत्र अपभ्रंश को ही मुख्य भाषा मानते हैं।

अतः पुरानी हिन्दी से तात्पर्य परवर्ती अपभ्रंश के उस रूप से है, जो अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर सार्वदेशिक हो चली थी, भले ही प्रादेशिकता के प्रभाव से उसमें भेदोपभेद दिखाई देते हों। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम वस्तुतः वर्तमान भेदों को केवल पुराना कह दिये गये हैं। इन सबके स्थान पर 'पुरानी हिन्दी' नाम ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि सार्वदेशिकता के लक्षण जो उस समय की भाषा में दिखाई देते हैं।

आगे चलकर विविध जैन साहित्य के साथ ही चन्द्रबरदाई के पृथ्वीराज रासो, विद्यापति की कीर्तिलता, मीरा के पद तथा तुलसीदास के रामचरितमानस में विकास करते हैं।

संक्रान्तिकालीन भाषा में अपनी पूर्ववर्ती भाषा के रूपों को मिलाकर लिखने की परम्परा रही है, साथ ही प्रादेशिक बोलियों को भी यथास्थान प्रयुक्त होते देखा जाता है। अतः प्रादेशिकता के प्रभाव से दूर हटकर सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर पुरानी हिन्दी को तत्कालीन सार्वदेशिक भाषा मानना होगा, जिस प्रकार नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती है।

प) प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी : अन्तः सम्बन्ध

संस्कृत सहित ये सभी भाषायें परस्पर एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हैं, जैसे कि गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों का संगम स्थल है। वस्तुतः साहित्यिक प्राकृतों में अपभ्रंश भाषा अंतिम कड़ी है। इसे भारतीय आर्य भाषा के मध्ययुग के अन्तिम युग की भाषा माना गया है।

वर्ण विकार और वर्ण लोप की जिन प्रवृत्तियों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है। वे अपभ्रंश में अपनी चरमसीमा पर पहुंच गयी हैं। इसीलिए अपभ्रंश भाषा में कोमलता अधिक है। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा निश्चित ही हिन्दी भाषा की जननी है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में हिन्दी का प्रमुख स्थान है। देश के अधिकांश लोगों द्वारा यह बोली जाती है। राष्ट्रभाषा होने का इसे गौरव प्राप्त है। दूरदर्शन, सी.डी., कम्प्यूटर, इण्टरनेट आदि के बढ़ते प्रभाव ने भी हिन्दी-भाषा की लोकप्रियता, व्यापकता और प्रभाव को तेज गति प्रदान की है। अब तो विश्व के अनेक देशों में इसका अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। देश के विभिन्न भागों और भाषाओं की सम्पर्क भाषा होने के कारण हिन्दी में विभिन्न भाषाओं और लोकभाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य का ही विकसित रूप हिन्दी है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार — “साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से विचार किया जाये तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्यरूपों की परम्परा हिन्दी में ही सुरक्षित है।” डॉ. सकलदेव शर्मा लिखते हैं — “हिन्दी काव्य का विषय ही नहीं, उसकी रचना शैली और छन्दों पर भी अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव है। अलंकारों के लिए भी हिन्दी अपभ्रंश की ऋणी है। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रंश से आया। अपभ्रंश की अनेक लोकोक्तियों, मुहावरों और कथानक रूढ़ियों को भी हिन्दी ने सहर्ष अपना लिया है। इस तरह भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित है।

हिन्दी, प्राकृत और अपभ्रंश का अन्तःसम्बन्ध बहुत प्रगाढ़ और गहरा है क्योंकि हिन्दी में अनेक भाषाओं के बहुतायत शब्द हैं जस्ूर, किन्तु यदि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट है कि

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का विकसित रूप ही हिन्दी है। अतः हिन्दी तो अपभ्रंश और प्राकृत भाषा की बेटी है। इस दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं को यदि हिन्दी भाषा की जननी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

वस्तुतः आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश के स्थानीय भेदों से हुआ है। श्री जगदीशप्रसाद कौशिक ने अपनी पुस्तक भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास (पृ. १६१) में अपभ्रंश से विकसित भाषाओं का निम्नलिखित उल्लेख किया है -

- क) पूर्वी भाषाएं - १. पूर्वी हिन्दी, २. बिहारी, ३. उड़िया, ४. बंगला, ५. असमिया।
- ख) पश्चिमी भाषाएं - गुजराती और राजस्थानी।
- ग) उत्तरी भाषाएं - सिन्धी, लहन्दा और पंजाबी।
- घ) दक्षिणी भाषा - मराठी।
- ङ) मध्यदेशीय भाषा - पश्चिमी हिन्दी।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा ही हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के मूल में है। इसलिए हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को अच्छी तरह से समझने के लिए अपभ्रंश भाषा का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी है। क्योंकि हिन्दी ही नहीं अपितु अन्यान्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की आधारशिला अपभ्रंश ही है।

प्रो. प्रेम सुमन जैन ने अपनी “प्राकृत-अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषायेँ” नामक लघु पुस्तिका में उदाहरणार्थ कुछ प्राकृत शब्द और उनके हिन्दी रूपान्तरण की सूची प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि हिन्दी में प्राकृत-अपभ्रंश जैसी लोकभाषाओं के शब्दों की बहुलता है। यदि इन शब्दों की जानकारी हो तो हिन्दी के प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए संस्कृत पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

आचार्य हेमचन्द्र की कृति 'देशीनाममाला' तथा प्राकृत-अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों-के बे कुछ शब्द यहां उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं, जो हिन्दी में सीधे से ग्रहण कर लिये गये हैं तथा उनके अर्थ में भी कोई परिवर्तन नहीं आया है -

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अक्खाड	अखाड़ा	छइल्लो	छैला
अरहट्ट	रहट	छल्लि	छाल
उक्खल	ओखली	झमाल	झमेला
उल्लुटं	उलटा	झाडं	झाड़
कक्कडी	ककड़ी	झंझडिया	झंझट
कहारो	कहार	डोरो	डोर, डोरा
कुहाड	कुहाड़ा	तग्गं	तागा
खट्टीक	खटीक	डाली	डाली
खलहान	खलिहान	थिग्गल	थेगला
खड्ड	खड्डा	नाई	नाई
खल्ल	खाल	बप्प	बाप
गंठी	गांठ	बइल्ल	बैल
गड्ड	गड्डा	बेट्टिय	बेटी
गोब्बर	गोबर	बड्डा	बड़ा
चाउला	चावल	पोट्टली	पोटली
चिडिय	चिड़िया	पत्तल	पतला
चारो	चारा	भल्ल	भला
चुल्लि	चूल्हा	सलोण	सलौना
चोक्ख	चोखा	साडी	साड़ी

इस तरह हिन्दी भाषा में प्राकृत के शब्द ही नहीं, अपितु प्राकृत की बहुत सी क्रियाएं भी आज भी जहाँ की तहाँ सुरक्षित हैं। हिन्दी की किसी क्रिया की संस्कृत से सीधे उत्पत्ति नहीं है।

तुलनात्मक दृष्टि से क्रियाओं के कुछ उदाहरण

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
उड्ड	उड़ना	भिडइ	भिड़ना
कड्ड	काढ़ना	बोल्ल	बोलना
कुद्द	कूदना	डंस	डसना
कुट्ट	कूटना	संभलिय	संभालना
खेल्ल	खेलना	बइठ्ठ	बैठना
खुद्द	खोदना	पिंजिय	पींजना
चुक्क	चूकना	भेट्टिबो	भेंटना
चुण्ण	चुगना	छोल्लिय	छोलना
चमक्क	चमकना	जाग	जागना
छड्ड	छोड़ना	जोडियां	जोड़ना
छुट्ट	छूटना	झुल्लंति	झूलना
झिल्लिओ	झेलना	निक्कालेउं	निकालना
देक्ख	देखना	लुक्कइ	लुकना
बुज्झ	बुझना	पल्लट्ट	पलटना
पिट्ट	पीटना	हल्लइ	हलना

शब्द और धातुओं के अतिरिक्त प्राकृत की अन्य प्रवृत्तियां भी हिन्दी में परिलक्षित होती हैं। द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, संयुक्त

व्यंजनों में सरलीकरण है। विभक्तियों का अदर्शन तथा परसर्गों का प्रयोग प्राकृत-अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी में होने लग गया है।

पूर्वोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं ने भारत की प्राचीन और अर्वाचीन प्रायः सभी भाषाओं को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु हिन्दी सहित अनेक भाषाओं की जननी होने का भी इन्होंने गौरव प्राप्त किया है। अतः प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी सहित अनेक भाषाओं का गहन अन्तःसम्बन्ध स्वयं सिद्ध है।

अपभ्रंश भाषा के उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ

क) चरित काव्य

१. महाकवि स्वयंभू (८वीं शती) कृत पउमचरिउ एवं रिदुणेमिचरिउ, २. अमरकीर्ति गणि कृत नेमिनाथ चरित, ३. शुभकीर्ति कृत शान्तिनाथ चरित, ४. यशः कीर्ति कृत चन्द्रप्रभु चरित, ५. महिन्दु कृत शान्तिनाथ पुराण, ६. देवदत्त कृत पार्श्वनाथ चरित, ७. धनपाल (वि. सं. १४५४) कृत बाहुबलि चरित, ८. लक्ष्मण कृत नेमिनाथ चरित, ९. श्रीधर (वि. स. १३वीं शताब्दी) कृत चन्द्रप्रभु चरित, पासणाह चरिउ, सुकुमाल चरिउ; १०. पद्मकीर्ति (वि. स. ११३४) पार्श्वनाथ चरित, ११. नरसेन (वि. सं. १५१२ से पूर्व) कृत वर्द्धमान कथा, १२. दामोदर कृत चन्द्रप्रभु चरित, १३. रङ्गधू (वि. स. १५वीं-१६वीं शताब्दी) कृत मेहेसर (मेघेश्वर) चरित, सम्मइ चरिउ, १४. धन्यकुमार चरित, सुकौशल चरित, जीवन्धर चरित, यशोधर चरित, सन्मतिनाथ चरित, १५. पुष्पदन्त (वि. सं. १०१६-१०२२) कृत महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, सम्मइ चरिउ।

१६. वीर कवि (वि. सं. १०७६) कृत जम्बूसामि चरिउ, १७. नयनन्दी (वि. सं. ११००) कृत सुदंसण चरिउ, १८. मुनि कनकामर (११वीं शती) कृत करकंडु चरिउ, १९. देवसेन गणि (वि. सं.

१०२९-१०७२) कृत सुलोयण चरिउ, २०. सिद्धसिंह (वि. सं. १३वीं शताब्दी) पञ्जुण चरिउ (प्रद्युम्न चरित्र), २१. हरिभद्रसूरि (वि. सं. १२१६) कृत सनत्कुमार चरिउ, २२. लखमदेव (वि. सं. १५१२ से पूर्व) कृत णेमिणाह चरिउ, २३. जयमित्र (वि. सं. १५४५ से पूर्व) कृत वर्द्धमान चरित्र, २४. माणिक्य राव (वि. सं. १५७६-१५८९) कृत नागकुमार चरित्र, २५. हरिदेव (१२वीं से १५वीं शताब्दी) कृत मयण पराजय चरिउ।

ख) प्रेमाख्यानक काव्य

१. सिद्ध कृत विलासवती कहा, २. लाखू कृत जिनदत्त कहा, ३. धाहिल कृत पउमसिरि चरिउ, ४. नयनन्दी कृत सुदंसण चरिउ, ५. माणिक्य नन्दी कृत सुदर्शन चरित्र।

ग) कथा साहित्य

१. धनपाल कृत भविसयत्त कहा, २. लाखू कृत जिनदत्त कहा, ३. सिद्ध कृत विलासवती कहा, ४. रइधू कृत सिरिपाल कहा, ५. श्रीधर कृत भविसयत्त, ६. दामोदर कृत सिरिपाल चरिउ।

घ) रास काव्य

१. जिनदत्त सूरि (स. १२९५) कृत उपदेश रसायन रास, २. सोमतिलक कृत कुमारपाल देव रास, ३. राजतिलक कृत चन्दनबाला रास, ४. शालिभद्र सूरि कृत बुद्धि रास, ५. अद्दहमाण (अब्दुरहमान - १२वीं शती) कृत सन्देश रासक, ६. जिनदत्त सूरि कृत चर्चरी, ७. देवेन्द्र सूरि कृत गय सुकुमार रास, ८. जिनप्रभ कृत नेमि रास, जोइन्दु कृत योगी रास, ९. लक्ष्मीचन्द कृत दोहाणुप्रेक्षा रास। इस प्रकार हजारों की संख्या में प्रकाशित-अप्रकाशित रासो ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

ड) खण्ड काव्य

१. पुष्पदन्त कृत गायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, २. वीर कवि कृत जंबुसामि चरिउ, ३. नयनन्दी कृत सुदंसण चरिउ, सकल-विधिनिधान काव्य, ४. अभयगणि कृत सुभद्र चरित, ५. अभयदेव सूरि कृत महावीर चरित, ६. कुमुदचन्द्र मुनि कृत नेमिनाथ रास, ७. उदयकीर्ति कृत सुगन्ध दशमी कथा, ८. जयसागर कृत वज्रस्वामी रास, ९. रङ्गधू कृत आत्मसंबोधन काव्य, १०. जिनप्रभ कृत मल्लिनाथ चरित, ११. जयमित्र हल कृत मल्लिनाथ काव्य, १२. विद्यापति कृत कीर्तिकला, १३. कनकामर (११वीं शती) कृत करकण्डु चरिउ, १४. धाहिल कृत पउमसिरि चरिउ, १५. पद्मकीर्ति कृत पासचरिउ।

१६. श्रीधर कृत भविसयत्त चरिउ, १७. देवसेन गणि कृत सुलोचना चरिउ, १८. हरिभद्र कृत सनत्कुमार चरिउ, १९. लाखू (या) लक्खण कृत जिणदत्त चरित, २०. धनपाल (पल्हणपुरी) कृत बाहुबलि चरित, २१. भगवती, दास (वि. स. १७००) कृत मृगांकलेखा चरित्र। इनके अतिरिक्त योगीन्दु देव का परमप्यासासु (परमात्मप्रकाश) एवं योगसार तथा अन्य अनेक विद्वानों द्वारा अपभ्रंश में प्रणीत अध्यात्म-परक उत्कृष्ट ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

अपभ्रंश दोहों के उदाहरण

उब्भियबाह असारउ सब्बु वि, म भमि कु-तित्थिअ-पट्ठेँ मुहिआ।

परिहरि तृणु जिम्बेँ सब्बु वि भव-सुहु, पुत्ता तुह मइ एउ कहिआ॥

— हे पुत्र ! मैंने अपनी भुजायें ऊपर उठाकर तुझसे कहा है कि सब कुछ असार है, तू व्यर्थ ही कुतीर्थों (मिथ्यादृष्टियों) के पीछे मत फिर, समस्त संसार के सुख को तृण के समान त्याग दे।

महाकवि कालीदास के विक्रमोर्वशीयम् में अपभ्रंश भाषा में यह सुन्दर गीत प्रस्तुत किया है —

हउं पइं पुछ्छिमि आक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती दिट्ठी पिअ पइं संमुह जन्ती॥

— हे गजवर ! मैं तुझ से पूछ रहा हूँ, उत्तर दे। तू ने अपने सुन्दर प्रहार से वृक्षों का नाश कर दिया है। दूर से ही चन्द्रमा की कान्ति को जीतने के लिये मेरी प्रिया को क्या तूने प्रिय के सम्मुख जाते देखा है ?

सिद्धहेमशब्दानुशासन में समागत दोहा —

भल्ला हुआ जो मारिआ, वहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेजंतु वयंसियहु, जहिभग्गा घर एंतु॥

— प्रस्तुत दोहे में कहा है कि पुरुष के पौरुष और वीर रमणी के दर्प का अनूठा रूप मिलता है। युद्ध क्षेत्र में पति का जूझते हुए मृत्यु प्राप्त करना उस काल की नायिका के लिए गर्व की तथा पीठ दिखाकर भागनेवाले नायक की पत्नी के लिए कितनी लज्जा की बात थी ?

अपभ्रंश गद्य का उदाहरण

अमंगलिय पुरिसहो कहा

एक्कहिं णयरि एक्कु अमंगलिउ मुद्धु पुरिसु आसि। सो एरिसु अत्थि जो को वि पभाये तहो मुह पासेइ, सो भोयणु पि न लहेइ। पउरा वि पच्चूसे कयावि तहो मुहु न पिक्खहिं। नरवइएं वि अमंगलिय पुरिसहो वट्टा सुणिआ। परिक्खेवं नरिंदे एगया पभायकाले सो आहूउ, तासु मुहु दिट्ठु। जइयहुं राउ भोयणा उवविसइ, कवलु च मुहि पक्खवइ, तइयहुं अहिलि नयरे अकम्हा परचक्क भये हलबोलु जाउ। तावेहिं नरवइ वि भोयणु चयेवि उट्टेविणु ससेणु नयरहे बाहिं निग्गउ।

भय कारणु अदट्टण पुणु पच्छा आगउ। समाणु नरिंदु चिंतेइ — इमहो अमंगलियहो सरूवु मइं पच्चक्खु दिट्ठु, तओ एहो हंतव्वो। एवं चिंतेप्पि अमंगलिय कोक्काविएप्पिणु वहेवं चंडालसु अप्पेइ। जययहुं

एहो रुवंतु, सकम्पु निंदंतु चंडाले सह गच्छंतु अत्थि, तइयहुं एक्कु कारुणित बुद्धिणिहाणु वहाहे नेइज्जमाणु तं ददूणं कारणु णाइ तासु रक्खणसु कणिण किंपि कहेप्पिणु उवाय दंसेइ। हरिसंतु जावेहिं वहस्सु थंभि ठविउ तावेहिं चंडालु तं पुच्छइ — ‘जीवणु विणा तउ कावि इच्छा होइ, तया मग्गियव्वा।’ सो कहेइ — महु नरिंद मुह दंसण इच्छा अत्थि। तया सो नरिंद समीवं आणीउ। नरिंदु तं पुच्छइ — एत्थु आगमण किं पओयणु ?

सो कहेइ — हे नरिंदु ! पच्चूसे महु मुहस्स दंसणे भोयणु न लहिज्जइ। परन्तु तुम्हहं मुह पेक्खणे मज्जु बहु भवेसइ, तइयहुं पउर किं कहेसंति/कहेसहिं। महु मुहहे सिरिमंतहं मुह दंसणु केरिसु फलउ जाइ ? नायरा वि पभाए तुम्हहं मुह कहं पासिहिरे ? एवं तासु वयण जुत्तिए संतुदु नरिंदु। सो वहाएसु निसेहेवि पारितोसिउ च दायवि हरिसिउ सो अमांगलिउ वि संतुस्सिउ।

(प्रस्तुत मूल, प्राकृत कथा का यह अपभ्रंश रूपान्तरण प्राकृत अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो. कमलचन्द सोगाणी, जयपुर द्वारा किया, जो कि उनके द्वारा लिखित ‘अपभ्रंश अभ्यास सौरभ’ नामक पुस्तक, प्रकाशक — अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर सन् २०१२ के पृ. १५६ से साभार उद्धृत है।)

हिन्दी अनुवाद

अमांगलिक पुरुष की कथा

एक नगर में एक अमांगलिक मूर्ख पुरुष था। वह ऐसा था, जो कोई भी प्रभात में मुँह को देखता, वह भोजन भी नहीं पाता (उसे भोजन भी नहीं मिलता)। नगर के निवासी भी प्रातःकाल में कभी भी उसके मुँह को नहीं देखते थे। राजा के द्वारा भी अमांगलिक पुरुष की बात सुनी

गई। परीक्षा के लिए राजा के द्वारा एक बार प्रभातकाल में वह बुलाया गया, उसका मुख देखा गया। ज्योंहिं राजा भोजन के लिए बैठा और मुँह में (रोटी का) ग्रास रखा, त्योंहिं समस्त नगर में अकस्मात् शत्रु के द्वारा आक्रमण के भय से शोरगुल हुआ। तब राजा ने भी भोजन को छोड़कर (और) शीघ्र उठकर सेना सहित नगर से बाहर गया।

फिर भय के कारण को न देखकर बाद में आ गया। अहंकारी राजा ने सोचा – इस अमांगलिक का स्वरूप मेरे द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया, इसलिए यह मारा जाना चाहिए। इस प्रकार विचारकर अमांगलिक को बुलवाकर वध के लिए चांडाल को सौंप दिया। जब यह रोता हुआ स्व-कर्म की (को) निन्दा करता हुआ चांडाल के साथ जा रहा था, तब एक दयावान, बुद्धिमान ने वध के लिए जाते हुए उसको देखकर, कारण को जानकर उसकी रक्षा के लिए कान में कुछ कहकर उपाय दिखलाया। (इसके फलस्वरूप वह) प्रसन्न होते हुए (चला)। जब (वह) वध के खम्भे पर खड़ा किया गया तब चांडाल ने उसको पूछा – जीवन के अलावा तुम्हारी कोई भी (वस्तु की) इच्छा है, तो (तुम्हारे द्वारा) (वह वस्तु) माँगी जानी चाहिए। उसने कहा – मेरी इच्छा राजा के मुख-दर्शन की है। तब वह राजा के समीप लाया गया। राजा ने उसको पूछा – यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?

उसने कहा – हे राजा ! प्रातःकाल में मेरे मुख के दर्शन से (तुम्हारे द्वारा) भोजन ग्रहण नहीं किया गया, परन्तु तुम्हारा मुख के देखने से मेरा वध होगा तब नगर के निवासी क्या कहेंगे ? मेरे मुँह (दर्शन) की तुलना में श्रीमान् का मुख-दर्शन कैसा फल उत्पन्न करता है ? नागरिक भी प्रभात में तुम्हारे मुख को कैसे देखेंगे ? इस प्रकार उसकी वचन-युक्ति से राजा सन्तुष्ट हुआ। राजा ने वध के आदेश को रद्द करके उसको पारितोषिक देकर प्रसन्न हुआ। इससे वह अमांगलिक भी सन्तुष्ट हुआ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि आठ भाषाओं से युक्त चन्द्रप्रभस्वामि स्तवन

छह प्रकार की प्राकृतों का श्री चन्द्रप्रभस्वामी स्तवन में एकसाथ प्रयोग किया गया है। इसके रचयिता आचार्य जिनप्रभसूरि हैं। षड्भाषामय यह स्तवन नामक तेरह पद्यों से युक्त है। वस्तुतः हमारे आचार्य अपनी रचनाओं में अद्भुत प्रयोग करते रहते थे। उसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह लघु स्तवन है। इसकी हस्तलिखित प्रति भोगीलाल लहेरचन्द्र इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। इसी अप्रकाशित प्रति के आधार पर इस अद्भुत स्तवन का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

इसमें आ. जिनप्रभसूरि ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त इन चौबीस तीर्थंकरों की शृंखला में अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभु स्वामी का गुणानुवाद स्वरूप मात्र एक ही स्तवन दो प्रकार की संस्कृत के साथ प्राकृत की अलग-अलग छह प्राकृत भाषाओं में — इस प्रकार कुल आठ भाषाओं में रचना करने का अद्भुत एवं सफल प्रयोग किया है। यह बात उन्होंने अन्तिम पद्य में सूचित की है। किन्तु उन्होंने संस्कृत, प्राकृत (महाराष्ट्री सामान्य प्राकृत), शौरसेनी, मागधी, पैशाचिक, चूलिका पैशाचिक, अपभ्रंश तथा सम-संस्कृत — इस तरह इन आठ भाषाओं में क्रमशः प्रत्येक भाषा में एक एवं कहीं-कहीं दो पद्यों द्वारा स्तवन की रचना की है।

भाषा की दृष्टि से इस स्तवन के लेखक ने जहाँ प्राकृत के प्रमुख भेदों में से प्रायः सभी प्रमुख प्राकृतों में गाथायें निबद्ध की हैं, वहीं संस्कृत भाषा के दो भेद संस्कृत और समसंस्कृत — इन दो भेदों में क्रमशः आदि और अन्त में पद्य तथा नवम एवं दशम पद्य अपभ्रंश भाषा में रचे हैं। इस प्रयोग से हमें संस्कृत के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं के साथ प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा

अवसर मिलता है। साथ ही हमें एक साथ एक ही स्तवन में प्राकृत की छह भाषाओं का स्वरूप भेद भी स्पष्ट हो जाता है। यहाँ यह सम्पूर्ण स्तवन प्रस्तुत है -

संस्कृत

नमो महसेन नरेन्द्रतनूज जगज्जनलोचन भृंगसरोज ।
शरद्भवसोमसमद्युतिकाय दयामय तुभ्यमनंत सुखाय ॥१॥
सुखीकृतसादरसेवकलक्ष विनिर्जित दुर्जयभावविपक्ष ।
सुरासुरवृंदनमस्कृतनंद महोदयकल्प महीरुहकंद ॥२॥

प्राकृत (महाराष्ट्र प्राकृत)

जयनिरसियतिहुयण जंतु भंति जयमोहमहीरुह दलणदंति ।
जयकुंदकलियसमदंतिपति जय जय चंदप्पहचंदकंति ॥३॥
जय पणयपाणिगणकप्परुक्ख जय जगडिय पयड कसायक्ख ।
जयनिम्मलकेवलणाणगेह जयजय जिणिंद अप्पडिमदेह ॥४॥

शौरसेनी

विगद दुह हेदुमोहारि केइदयं
दलिदगुरुदुरिदमथ विहिद कुमुदक्खयं ॥
नाथ तं नमदि जोसदनदवत्सलं
लहदि निव्वुदि गदिसाददं निम्मलं ॥५॥

मागधी

अश्रुलश्रुलविसलनललाय सेविद पदे ।
नमिल जय जंतु तुदि दिन्नशिव पुलपदे ॥
दलनपुलनिलद संसालिसलसीलुहे ।
देहि मे सामि तंसालसासदपदे ॥६॥

पैशाचिकं

तलिताखिलतोसतयासतनं मदनानल-नील-मनान गुणं ।
नलिनारुण पात तलं नमते जिनजोड्धतंसशिवलभते ॥७॥

चूलिका पैशाचिकं

कलनालिकनातुल तप्पहलं लचनीकर चालुयशप्पसलं ।
ललनाचनकीतकुनंलुचिलं दिन राच महंसमलामिचिलं ॥८॥

अपभ्रंश

सासयसुख्कनिहाणुनाहन, दिट्ठो जेहिंतऊं पुन्नविहूणउ ।
जाणुनिप्फल जम्मुतिहंनरपसुहं ॥९॥

निम्मलतुहमुहंचंदु जेपहु पिक्कै पसरसिउं ।
इयनिरुदमआणंदतिहिं मनिसामी विप्फुरइ ॥१०॥

समसंस्कृत

हारिहारहरहासकुंदसुंदरदेहाभय,
केवलकमलाकेलिनिलय मंजुल गुणगणमय ।
कमलारुणकरचरण चरणभरधरण धवलबल,
सिद्धिरमणसंगमविलास लालसमलमवदल ॥११॥

भवदवनवजलदाह विमलमंगलकुल मंदिर,
वामकामकरिकेलिहरणहरिवरगुणबंधुर ।
मंदिरगिरिगुरुसारसबलकलिभूरुह कुंजर,
देहिमहोदयमेवदेवममकेवलिकुंजर ॥१२॥

इति जगदभिनन्दनजनहृदिचंदनचन्द्रप्रभ जिनचंद्रवर ।
षड्भाषाभिष्टुतममंगलयुत सिद्धिसुखानि विभोवितर ॥१३॥

इति श्री चन्द्रप्रभस्वामि स्तवनं कृतिरियं श्रीजिनप्रभसूरीणा

निष्कर्ष

इस तरह आधुनिक भारतीय भाषाओं की संरचना और शब्द तथा धातुरूपों पर भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह उसकी सरलता और जन-भाषा होने का प्रमाण है। न केवल भारतीय भाषाओं के विकास में अपितु इन भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं को भी प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य ने पुष्ट किया है।

किसी भी जन-भाषा के लिए इन प्रवृत्तियों से गुजरना स्वाभाविक है। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक ऐसे कठिन एवं संस्कृतनिष्ठ शब्द गढ़ दिये गये, जिनसे हिन्दी के प्रचार-प्रसार पर विपरीत प्रभाव ही पड़ा।

वस्तुतः लोकप्रियता की दृष्टि से वही हिन्दी भाषा जन-जन तक पहुंच सकती है, जो सुगम और सुबोध है और इसे भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग के अन्तिम युग की भाषा माना गया है।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा से ही पुरानी हिन्दी तथा इससे आधुनिक हिन्दी भाषा का विकास हुआ है। शब्द एवं धातुरूपों में नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिन्दी तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास की आधारभूमि उपस्थित कर दी है।

अपभ्रंश का साहित्यिक क्षेत्र मध्यदेश है, जो कि हिन्दी का जन्मस्थान है। यह हिन्दी के विकास की पूर्वपीठिका है। इस प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषायें विभिन्न कालों में विभिन्न विशेषकर उत्तर भारतीय भाषाओं को निरन्तर प्रभावित और विकसित करती रही हैं। अतः इन सबके विकास का इतिहास जानने के लिए प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन आवश्यक है।

यद्यपि प्राकृत-भाषा और इसका साहित्य अत्यधिक समृद्ध होने से भारतीय संस्कृति में इसका अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। इसे

अनेक प्राचीन और अर्वाचीन प्रमुख भारतीय भाषाओं की जननी होने का भी गौरव प्राप्त हैं; किन्तु इसकी हर स्तर पर उपेक्षा के कारण इसके अस्तित्व पर भी संकट के काले बादल मंडरा रहे हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति और संस्कारों की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित संस्कृत-भाषा को सरकारी तथा अन्य स्तरों पर प्रोत्साहन मिलना शुभ संकेत है; किन्तु इसी की सहोदरा प्राकृत-भाषा की उपेक्षा पर चिन्तित होना भी स्वाभाविक है।

आश्चर्य तो तब होता है जब विद्वान् संस्कृत-भाषा को सभी भाषाओं की जननी मानते हुए प्राकृत-भाषा को भी संस्कृत-भाषा से उत्पन्न कह देते हैं। इस मिथ्या मान्यता के पीछे कुछ प्राकृत वैयाकरणों के सही सूत्रों की गलत व्याख्या कर लेना तो है ही, साथ ही कुछ लोगों को इस भाषा साहित्य और उसकी परम्परा के वैभव के प्रति पूर्वाग्रह भी एक कारण है। पूर्वोक्त मिथ्या मान्यता और धारणा को न तो भाषावैज्ञानिक स्वीकार करते हैं और न ही यह अन्य प्रमाणों से सिद्ध होती है।

इसे सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि संस्कृत-भाषा के विशाल और समृद्ध शब्द-भण्डार से देशी-विदेशी अनेक भाषायें समृद्ध अवश्य हुई हैं, पर संस्कृत-भाषा से न तो प्राकृत-भाषा उत्पन्न हुई है और न अन्य भाषायें। विकास की दृष्टि से तो दोनों भाषायें सहोदरा मानी जा सकती हैं; किन्तु एक दूसरे को, एक दूसरे की जननी नहीं कहा जा सकता है।

अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने प्राचीन आर्यभाषा 'छान्दस' से प्राकृत का विकास माना है। साथ ही लौकिक संस्कृत अर्थात् देवभाषा संस्कृत का विकास भी इसी छान्दस से माना है। अतः प्राकृत एवं संस्कृत — इन दोनों का स्रोत एक ही होने से ये सहोदरा भाषायें हैं। वेदों की भाषा प्रयत्न-साध्य अथवा एकलयबद्ध, एक रूप तथा एक छन्दबद्ध होने से इसे 'छान्दस' भाषा इस नाम से अभिहित किया गया।

डॉ. राजमल बोरा ने 'भारत की भाषायें' नामक पुस्तक में लिखा है कि संस्कृत-भाषा अपने मूल रूप में वैदिक संस्कृत थी और उसका विस्तार जब पूरब और दक्षिण की ओर रहा था, उस समय देश में अन्य भाषायें बोली जाती थीं।

यह इस बात का प्रतीक है कि राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, सौहार्दभाव और इनके लिए वातावरण निर्माण में भाषा कितना महत्वपूर्ण माध्यम होती है ? संस्कृति की सुरक्षा भाषा की उदारता पर ही निर्भर है। और प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं की सुरक्षा भी हम सभी की उदारता पर ही निर्भर है। क्योंकि ये भाषाएं सदा से उदारता के क्षेत्र में अग्रणी रही हैं। जिनका प्रभाव आज की प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में स्पष्ट दिखलाई देता है।

प्राकृत-अपभ्रंश भाषायें और इनके समृद्ध साहित्य में भारतीय संस्कृति एवं लोक संस्कृति के मूल-स्वर ओजस्वी रूप में मुखरित होते हैं। किन्तु आश्चर्य है कि जो स्वयं अनेक भाषाओं की जननी और लम्बे काल तक राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही — वह राष्ट्र की बहुमूल्य धरोहर प्राकृत भाषा आज इतनी उपेक्षित क्यों है ? जिसे आज अपनी अस्मिता एवं पहचान बचाने और मूलधारा से जुड़ने हेतु संघर्ष करना पड़ रहा है ?

केन्द्र और राज्य सरकारों की ओर से अन्य अनेक भारतीय भाषाओं के विकास हेतु स्थापित अकादमी या संस्थानों की भांति सम्पूर्ण देश में एक भी प्राकृत अकादमी, प्राकृत विश्वविद्यालय या संस्थान की स्थापना आज तक क्यों नहीं हुई ? ये सब प्रश्न बार-बार उठते और मन को कचोटते हैं। किन्तु इन सब प्रश्नों का समाधान हम सभी को मिल-जुलकर खोजना है और विविध प्रयासों से प्राकृत अपभ्रंश भाषा को व्यापक रूप में पुनः प्रतिष्ठा करना है, अन्यथा हमारी भावी पीढ़ी हमें इनकी उपेक्षा के लिए कभी क्षमा नहीं कर सकेगी।

प्राकृत निबंध

१. मणोरमं उज्जाणं

इदं उज्जाणं अत्थि। उज्जाणे बालआ कीडंति। इदं मणोरमं उज्जाणं अत्थि। इमम्मि उज्जाणे रुक्खा, लदाओ कुंजाणि संति। पक्खिणो रुक्खेसु लदासु ठइदूण कोलाहलं कुणंति। एगम्मि ठाणे कागा, कुक्कुडा, चडगा किं पि धाण्णादिगं भक्खंति। अत्था सुगा चिट्ठंति। इमा मयूरा संति। जदा बरिसा काले घणा गज्जंति तदा इमा मयूरा णच्चंति। जणा मयूरस्स णच्चणं पासिदूण हरिसंति।

इमम्मि उज्जाणे कवोद-कोगिल-बक-हंस-सुगा सदा सुदिमहुरं हूजंति। उज्जाणस्स अवरे विभागे अणेगा पसुणो संति। सिंह-वग्घ-मगाल-भल्ल-सूगरा सगे-सगे पिंजरे चिट्ठंति। हरिण-सस-वाकराणं णाणं पिधगं अत्थि। इदं उज्जाणं विसालं अत्थि। अत्थ एगो रमणीयं सरोवरं अत्थि। इमम्मि सरोवरे विविहा जलचरा इदो तदो संचरंति। तत्थ जणा मगरा कच्छवा मंडूगा पासिदूण रंजंति।

जणा अत्थ पुष्पाण सुंदेरं पासिदुं आगच्छंति। इमम्मि उज्जाणे पेद-पीद-रत्त णीलवण्णाण पुष्पाण सोहा विज्जदे। बालआ अत्थ कीडंति तथा तत्थं ठइदूण अप्पाहारं वि गिण्हंति। इदं मणोहरं उज्जाणं सोहाए णोरंजणस्स वा ठाणं अत्थि।

(प्रो. प्रेमसुमन जैन द्वारा लिखित शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण, पृ. १६४ से साभार उद्धृत)

२. तित्थयर-महावीरचरियं

जयइ सुआणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।

जयइ गुरू लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो॥

सगबोधदीवणिज्जिद भुवणत्तयरुद्धमंदमोहतमो।

णमिदसुरासुर संघो जयदु जिणिंदो महावीरो॥

अम्हे जाणीमो जं पाईणकालाओ ज्जेव पाइयभासा लोयाणं जण-
भासा आसी। सा भासा अणेग भारहभासाणं जणणी अत्थि। सा य
अइसोहणा, महुरजलधारा व्व पवहइ। तीए भासाए जिणधम्मस्स अंतिम
तित्थयरस्स महावीरस्स चरियं लिहिउं अहं पउत्तो म्हि।

जिणधम्मो भारहदेसस्स पाईणपमुहो य धम्मो अत्थि। ‘जिण-
धम्मोवासया सावया तित्थयरे पूजेति, थुवन्ति य। जिणधम्मे चउवीस-
तित्थयराणं दीहपरम्परा अत्थि। तेसु उसहो पढमो महावीरो य अन्तिमो
अत्थि। छव्वीस-वरिससयपुव्वं चइत्तमासे सुक्किलपक्खस्स तेरसमे दियहे
भगवंतस्स महावीरस्स जम्मं जायं। तस्स जम्मट्ठाणं विदेहपाएसस्स (अहुणा
बिहारपाएस) वेसाली-गणतंते खत्तियकुंडगामो अत्थि। महावीरस्स पिया
सिद्धत्थो आसी, माया य तिसला आसि। तस्स पंच नामाणि जाणीयंति –
वड्ढमाणो, सम्मई, वीरो अहवीरो, महावीरो य।

सो निगंथनायपुत्त-रूवेणावि जाणिज्जइ। पालि साहिच्चे सो
निगंथनातपुत्तो त्ति नामेण उल्लिहिओ अत्थि। बालावत्थाए मायापियरेहिं
‘वड्ढमाणो’ त्ति नामेण संबोहिओ। कारणं – तस्स जम्मकाले सव्वंगीण-
वुड्ढी संजाया। स बालकाले ज्जेव अब्भुय परक्कमी, साहसी, बलवंतो,
णाणी य आसी। तहेव सव्वासु कलासु कुसलो, संवेयणसीलो विज्जाजुत्तो
य आसी। सेसवकालम्मि ज्जेव तस्स तत्तदंसणे असाहारण-गई आसी।

जुवाणावत्थाए सो जया विऊढो तथा वि विरत्तभावेण ज्जेव

आसी। सो बंभचेरवयं गहीअ। ठाणंग सुत्ते (५/२३४) एवमुत्तं – पंचतित्थ-
यरा कुमारवासमज्जे वासित्ता मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वइया, तं जहा – वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठणेमी, पासे, वीरे य।

लोइय-विसएसु वि बालगवड्ढमाणस्स हिययं संपुणरूवेण विरयं
आसी। तस्स हियए सयसा इमे भावा अहेसी –

१. सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसार अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो॥
२. इट्ठणिट्ठ अट्टेसु - मा मुज्झह ! मा रज्जह ! मा दूसह !
३. समयो खलु णिम्मलो अप्पा। समयं मा पमाए ।
४. जे एगं जाणइ ते सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं
जाणइ।

सो बारसदिवसं सत्तमासं अहिअं अट्ठावीसवासं कुमारत्तणेण
गमेऊण मागसीस मासस्स कण्हपक्खस्स दसमीए तिहीए पव्वज्जं गेण्हिय
पंचमुट्ठिलोयं करिय निग्गंथो जाओ। आगमे उत्तं च –

मगगसिरबहुलदसमी अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे।

तदियव्ववणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण॥

– तिलोयपण्णत्ति ४/६६७॥

तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं
पंचमुट्ठियं लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ, करेत्ता, “सव्वं मे
अकरणज्जं पावकम्मं” ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ। (आयार-
चूला १५/३२)

तदो णिग्गंथ भावं अंगीकरिय समणमहावीरो अप्पकालेण
झाणावत्थाए एवं अणुभूओ –

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसण-णाण मंडओ सया रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मेत्तं वि॥
एगो मे सस्सओ अप्पा णाणदंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सब्बे संजोग लक्खणा॥
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

इत्थं सद्धवारहसंच्छरपेरंतं दीहं तवं तेण कयं। तवं 'कुणन्तेण
तेण अणेगे उवसग्गा समयाभावेण सोढा। परंतु सो झाणाओ ण भट्ठो।
थिरभावाओ तेण किंचि वि अविचलिरुण अहकट्ठेण तवं कयं।

एगया सो उज्जुवालिया णईअडे सालवच्छस्स हेट्ठे झाणं झायन्तो
आसि, तया तस्स सब्बोच्चणाणं केवलणाणं समुप्पण्णं। तेण सो अरिहन्तो
सव्वण्णू सब्बदंसी वीयरई य जाओ। उत्तं च तिलोयपण्णत्तिम्मि ४/१७०१-

वइसाहसुद्धदसमी मघारिक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजूकूलणदीतीरे अवरणहे केवलं णाणं॥

भगवंतेण पढमा देसणा रायगिहणगरस्स विउलाचले दत्ता।
जिणधम्मे तस्स धम्मसहा 'समोसरणं' ति केहिज्जइ। तस्स समोसरणं
सव्वोदयतित्थो भवइ। जंसि पसु-पक्खी-देव-दाणव-मणुस्साई उवएसं
सोडं आगच्छंति। महावीरस्स एक्कारस गणहरा अहेसि। तस्स उवएसस्स
अद्धमागही भासा आसी। आगमे उत्तं - भगवं च णं अद्धमागहीए
भासाए धम्ममाइक्खइ। भगवया धम्मदेसणाए एवं पण्णत्तं- धम्मो
दुविहो-पढमो समणाणं विदिओ गहत्थाणं च। समणाणं धम्मे अट्ठावीसा
मूलगुणा सन्ति। उत्तं च -

पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्धिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥

अच्छेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।

ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥ मूलाचार १/२-३॥

पंचमहव्वया इत्थं -

हिंसाविरदी, सच्चं, अदत्त परिवज्जणं च बंधं च।

संग विमुत्ती य तथा महव्वया पंच पण्णत्ता॥ मूलाचार १/४॥

गिहत्थाणं धम्मे बारहवयाइं संति - पंच अणुव्वयाणि, तिण्णिण गुणवयाणि, चत्तारिसिक्खावयाणि य। एवं धम्मदेसणं अणुसरिय भगवया चउव्विह संघो रइओ - समणो समणी सावओ साविया य। उत्तं च पवयणे तेण -

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।

तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥

- पवयणसारो ६७

सव्वे वि पोग्गलिय भव्वा पुण्णकम्मपणुल्लिया (पुण्यकमंप्रिरिता) संति। सुहजोगं विणा पुण्णबंधो ण होइ। सुहजोए णिअमेण णिज्जरो होइ। णिज्जरा वि तवमंतरेण ण होइ। तवो वि पयंड धम्मंगो अत्थि। तं धम्मो ज्जेव सव्वसुहमूलंति विणिच्छिअं तत्तं। सुहेच्छूणं अविक्कहं सुहोप्पत्ती जाव परवत्थुम्मि तेसिं सुहगवेसणा होइ। अप्पा अणंतसुहरूवो अत्थि। परवत्थुम्मि आसत्ती ज्जेव दुक्खकारणं। तम्हा धम्मो पढमं कायव्वो। णाणविहूणा किरिआ वि अंधवाणपरंपरा विव ण सम्मं लक्खं भिदिउं खमा। अणुऊलपडिऊलेसुं सम्मत्तणं भावेमाणा वीयराया ण कत्थइ खिज्जंति। तेण कहियं -

सामाइयमाइयं सुयनाणं जाव बिन्दुसाराओ।

तस्सवि सारो चरणं सारो चरणस्स णिव्वाणं॥

- आवश्यक निर्युक्ति ९३

जहा सूइ ससुत्ता ना विणस्सई।
 तथा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥
 जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
 जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥ मोक्खपाहुडं॥
 अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कादव्वं।
 अप्पहियपरहियादो अप्पहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

— भगवती आराधना, पृ. ३५१

तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे गोयमाईणं
 समणाणं णिगंथाणं पंचमहव्वयाइं सभावणाओ छज्जीवनिकायाइं च
 आइक्खइ भासइ परूवेइ। एगया गोयमेण गणहरेण महावीरो पुच्छिओ—

कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए।
 कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्झई।मूलाचार॥

तित्थयरो महावीरो एवं वयासी —

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
 जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई॥ मूलाचार॥

पढमो गणहरो गोयमो इंदभूर्इ य तित्थयरस्स अरहंतस्स महावीरस्स
 उवएसे बारह-अंगेसु गुंफीअ (गंथीअ)। उत्तं च —

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
 सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥

— आवश्यक निर्युक्ति ९३

बारहाणं अंगाणं णामाइं इत्थं संति — आयारंगो, सूयगडंगो,
 ठाणंगो, समवायंगो, वियाणपण्णत्ति णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ,
 अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पणहावागरणाइं, विवागसुयं,
 दिट्ठिवाओ य।

एवं भगवन्तो महावीरो उवएसं कुणन्तो गामाणुगामं विहरन्तो
सव्वपाणे मोक्खमग्गं णिदंसेंतो कत्तियमासस्स किण्हपक्खस्स अमाव-
स्साए तिहीए बम्हमुहुत्ते पावाणयरीए णिव्वाणं पत्तो। तओ पहुइ इमो
णिव्वाणदिवसो दीवावली उच्छव्वरूवेण पसिद्धो जाओ। उत्तं च
हरिवंशपुराणम्मि (६६/१९) -

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्मपावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥

जीए रयणीए समणो भगवं महावीरो णिव्वाणं पत्तो, तीए रयणीए
नवमल्लई-नवलिच्छई कासी-कोसलाइ अट्टारह गणरायाणो पाराभायं
पोसहोववासं पट्टविंसु। महावीरे णिव्वाणं पत्ते भावुज्जोओ गओ। अम्हे
दव्वुज्जोयं करिस्सामो।

(यह प्राकृत निबन्ध लेखक द्वारा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी के श्रमण विद्या संकाय में आयोजित महावीर जयंती (१९८२) के
अवसर पर प्रस्तुत किया गया।)

प्राकृत भाषा में अंकों की गणना (गिनती)

प्राकृत में गणना-वाचक संख्या शब्द

१. एक्क, इक्क, एग, एअ
२. दो, दुवे, वे, दोण्णि
३. ति, तिण्णि
४. चउ, चउरो
५. पंच
६. छ, छट्ट
७. सत्त
८. अट्ट
९. णव
१०. दस, दह
११. एक्कारह, एक्कारस, इक्कारह, एगारह, एआरह,
१२. बारह, बारस, दुवालस
१३. तेरह, तेरस
१४. चउदह, चउदस, चोदस
१५. पण्णरह, पण्णरस, पंचरह
१६. सोलस, सोलह, छदस
१७. सत्तरह, सत्तरस, सत्तदस
१८. अट्टारह, अट्टारस, अट्टदस, अट्टदह
१९. एगूणवीसा, अउणवीसा, अउणवीसइ
२०. वीसा, वीसइ
२१. एक्कवीसा, एगवीसा, एगवीसइ
२२. बाइसा, बावीसा, बावीसइ
२३. तेवीसा, तेवीसइ
२४. चउवीसा, चउवीसइ

२५. पण्णवीसा, पण्णवीसइ, पणुवीसा
 २६. छब्बीसा
 २७. सत्तवीसा, सत्तावीसा, सत्तवीसइ, सत्तावीसइ
 २८. अट्ठवीसा, अट्ठावीसा, अट्ठावीसइ
 २९. अउणतीसा, एगूणतीसा, एगूणतीसइ, अउणतीसइ
 ३०. तीसा
 ३१. एगतीसा, एक्कतीसा
 ३२. बत्तीसा
 ३३. तेत्तीसा, तिन्तीसा, तेत्तीसइ
 ३४. चउतीसा, चउतीसइ
 ३५. पण्णतीसा, पंचतीसा, पण्णतीसइ, पंचतीसइ
 ३६. छत्तीसा, छत्तीसइ
 ३७. सन्ततीसा, सत्ततीसइ
 ३८. अट्ठतीसा, अट्ठतीसइ
 ३९. एगूणचत्तालीसा, अउणचत्तालीसा
 ४०. चत्तालीसा, चालीसा
 ४१. एग (एक्क) चत्तालीसा, इगयाला
 ४२. बायालीसा
 ४३. तेआलीसा, तेयालीसा
 ४४. चउआलीसा, चोयालीसा
 ४५. पणयालीसा, पणयाला, पंचतालीसा
 ४६. छायालीसा
 ४७. सीयालीसा, सत्तचालीसा
 ४८. अट्ठयालीसा, अट्ठतालीसा, अट्ठयाला, अट्ठयालीसा
 ४९. एगूणपण्णासा, अउणापण्णा, एगूणपन्ना
 ५०. पण्णासा, पन्नासा
 ५१. एगावन्ना, एगपण्णासा, एक्कपण्णासा, एगावण्णा

५२. बावण्णा
 ५३. तेवन्ना
 ५४. चउवन्ना, चउपण्णा, चउपण्णासा
 ५५. पणपण्णा, पणवन्ना
 ५६. छप्पन्ना, छव्वन्ना
 ५७. सत्तावन्ना
 ५८. अट्टावन्ना, अट्टावण्णा
 ५९. एगूणसट्ठि, अउणसट्ठि, अउणट्ठि
 ६०. सट्ठि
 ६१. एगसट्ठि
 ६२. बासट्ठि, बावट्ठि, बिसट्ठि
 ६३. तेसट्ठि, तेवट्ठि, तिसट्ठि
 ६४. चउसट्ठि
 ६५. पणसट्ठि, पंचसट्ठि
 ६६. छसट्ठि
 ६७. सत्तसट्ठि
 ६८. अट्टसट्ठि, अडसट्ठि
 ६९. एगूणसत्तरि, अउणत्तरि
 ७०. सत्तरि, सयरि
 ७१. एक्कसत्तरि, एगसत्तरि, इक्कसत्तरि, एहत्तरि
 ७२. बाहत्तरि, बावत्तरि, बिसत्तरि, बिसयरि
 ७३. तेवत्तरि, तेवुत्तरि
 ७४. चउहत्तरि
 ७५. पञ्चहत्तरि
 ७६. छहत्तरि, छस्सयरि, छाहत्तरि
 ७७. सत्तहत्तरि, सत्तहुत्तरि
 ७८. अट्टहत्तरि
 ७९. एगूणासीइ

८०. असीइ
 ८१. एक्कासीइ, एगासीइ
 ८२. बासी, बाईसि, बासीइ
 ८३. तेआसी, तेसीइ
 ८४. चउरासी, चउरासीइ, चउरासीया
 ८५. पणसीइ, पंचासीइ
 ८६. छासीइ, छलसीइ
 ८७. सत्तासीइ
 ८८. अट्टासी, अट्टासीइ
 ८९. एगूणनउइ
 ९०. णवइ, नउइ
 ९१. एक्काणउइ
 ९२. बाणउइ, बाणुवइ
 ९३. तेणवइ, तेणउइ, तिणवइ
 ९४. चउणवइ, चउणउइ
 ९५. पंचाणउइ, पण्णाउइ
 ९६. छण्णवइ, छण्णउइ, छणुवइ
 ९७. सत्तणवउ, सत्ताणउइ
 ९८. अट्टाणवइ, अट्टाणउइ
 ९९. णवणवइ, नउणउइ
 १००. सय
 २००. दुसय
 ३००. तिसय, तिण्ण सय
 ४००. चत्तारि सय
 ५००. पणसय, पञ्जसय
 ६००. छसय, छस्सय
 ७००. सत्तसय
 ८००. अट्टसय

१००	नवसय
१०००	सहस्स
१००००	दससहस्स
१०००००	लक्ख
१००००००	दसलक्ख
१०००००००	कोडि
१००००००००	दहकोडि

क्रम वाचक संख्यावाची शब्द

प्रथम	—	पढम (First)
द्वितीय	—	बीय, विइय (Second)
तृतीय	—	तइय, तिइय, तिइज्ज, तच्च (Third)
चतुर्थ	—	चउत्थ (Fourth)
पंचम	—	पंचम (Fifth)
षष्ठ	—	छट्ट (Sixth)
सप्तम	—	सत्तम (Seventh)
अष्टम	—	अट्टम (Eighth)
नवम	—	नवम, णवम (Nineth)
दसम	—	दसम, दहम (Tenth)
बीसवाँ	—	वीसइम (Twentieth)
तीसवाँ	—	तीसइम, तीसम (Thirtieth)
चालीसवाँ	—	चालीसम, चत्तालीसम (Fortieth)
पचासवाँ	—	पण्णसम, पण्णसइम (Fiftieth)
साठवाँ	—	सट्टिम (Sixtieth)
सत्तरवाँ	—	सत्तरिम, सयरिम (Seventieth)
अस्सीवाँ	—	असीइम (Eightieth)
नब्बेवाँ	—	णवइयम, णवइम (Ninetieth)
सौवाँ	—	सयम (Hundredth)

प्राकृत की प्रमुख सूक्तियाँ

क) दसवेआलियं से —

पढमं नाणं तओ दया । ४/१०

— आचरण से पहले जानो। पहले ज्ञान है फिर दया।

अन्नाणी किं काहीं

किं वा नाहिइ छेय पावंगं । ४/१०

— अज्ञानी क्या करेगा जो श्रेय और पाप को भी नहीं जानता ?

जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई ।

जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं ॥ ४/१३ ॥

— जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है, वही जीव और अजीव दोनों को जानने वाला, संयम को जान सकेगा।

काले कालं समायरे । ५/२/४

— हर काम ठीक समय पर करो।

जे न वंदे न से कृपे वंदिओ न समुक्कसे । ५/२/३०

— सम्मान न मिलने पर क्रोध और मिलने पर गर्व मत करो।

अहिंसा निउणं दिट्ठा सब्भूएसु संजमो । ६/८

— सब जीवों के प्रति जो संयम है, वही अहिंसा है।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो । ६/२०

— मूर्च्छा ही परिग्रह है।

सुयलाभे न मज्जेज्जा । ८/३०

— ज्ञान का गर्व मत करो।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्डई ।

जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे ॥ ८/३५ ॥

— जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण कर ले।

राइणिएसु विणयं पउंजे । ८/४०

— बड़ों का सम्मान करो।

धम्मस्स विणओ मूलं । ९/२/२

— धर्म का मूल विनय है।

निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा । १०/१

— सदा प्रसन्न (आत्म-लीन) रहो।

अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए । १०/५

— सबको आत्म-तुल्य मानो।

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा । १०/१०

— कलह को बढ़ाने वाली चर्चा मत करो।

संपिक्खई अप्पगमप्पएणं । चूलिका २/१२

— आत्मा से आत्मा को देखो।

सव्वभूय पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ ।

पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥४/९॥

— जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता।

ख) समणसुत्तं से —

सुट्ठवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।

इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥४७॥

— बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड़ में कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में भी कोई सुख दिखाई नहीं देता।

जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।

सो तंमि-तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥५७॥

— जिस समय जीव जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता है।

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥८३॥

— वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य — इन भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) धर्म है। तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मित्ती मे सव्वेभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥८६॥

— मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है। मेरा किसी से भी वैर नहीं है।

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥१२३॥

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है। सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥१२५॥

— जो दुर्जेय संग्राम में हजारों-हजार योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने आप को जीत लेता है, उसकी विजय ही परम (उत्कृष्ट) विजय है।

अप्या चेव दमेयव्वो, अप्या हु खलु दुदमो ।

अप्या दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥१२७॥

— स्वयं (अपने आप अर्थात् आत्मा) पर ही विजय आप प्राप्त करना चाहिए। अपने आप पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है। क्योंकि आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

अण थोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।

न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होई ॥१३४॥

— ऋण (कर्ज) को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक (थोड़ी) और कषाय को अल्प मान — इन पर विश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। क्योंकि ये सब थोड़े होते हुए भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणवहं धोरं, निगंथा वज्जयंति णं ॥१४८॥

— सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए (प्रत्येक जीव के) प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन (त्याग) करते हैं।

जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।

जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥१६८॥

— हे मनुष्यो ! सतत जागृत रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं है, धन्य वह है, जो सदा जागता है।

ग) वज्जालग्ग से —

दुक्खं कीरइ कव्वं कव्वम्मि कए पउंजणा दुक्खं ।

संते पउंजमाणे सोयारा दुल्लहा हुंति ॥६॥

— काव्य-रचना कष्ट से होती है, (काव्य-रचना) हो जाने पर उसे सुनाना कष्टप्रभ होता है और जब सुनाया जाता है, तब सुनने वाले भी कठिनाई से मिलते हैं।

पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहिं ।

उययस्स य वासियसीलस्स तित्तिं न वच्चायो ॥१२१॥

— प्राकृत-काव्य, विदग्ध-भणिति (द्व्यर्थक व्यंग्योक्ति) तथा सुवासित शीतल जल से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उससे हमें पूर्णतया तृप्ति नहीं होती है।

दिट्ठे वि हु होइ सुहं जइ वि न पावंति अंगसंगाइं ।

दूरट्ठिओ वि चंदो सुणिव्वुइं कुणइ कुमुयाणं ॥१७८॥

— प्रेमी यद्यपि अंगों का स्पर्श नहीं पाते हैं तथापि देख कर भी उन्हें सुख मिल जाता है। चन्द्रमा सुदूर स्थिर होने पर भी कुमुद-कानन को आह्लादित कर देता है।

सीलं वरं कुलाओ दालिदं भव्वयं च रोगाओ ।

विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तवाओ ॥१८६॥

— कुल से शील श्रेष्ठ है, रोग से दारिद्र्य श्रेष्ठ है, विद्या राज्य से श्रेष्ठ है और क्षमा बड़े तप से भी श्रेष्ठ है।

जं जि खमेइ समत्थो धणवंतो जं न गव्वमुव्वहइ ।

जं च सविज्जो नमिरो तिसु अलंकिया पुहबी ॥१८७॥

— जो मुन्य समर्थ होने पर भी क्षमा करता है, धनवान् होने पर भी गर्व नहीं करता और जो विद्वान् होने पर भी विनम्र रहता है — इन तीनों से पृथ्वी अलंकृत होती है।

सिग्घं आरुह कज्जं पारद्धं मा कहं पि सिढिलेसु ।

पारद्धसिढिलियाइं कज्जाइ पुणो न सिज्झंति ॥१२२॥

— कार्य का आरम्भ शीघ्र करो, प्रारब्ध (अर्थात् प्रारम्भ किए हुए) कार्य में किसी भी प्रकार की शिथिलता मत करो। प्रारम्भ किए हुए कार्य में शिथिलता आ जाने पर वे पुनः पूर्ण नहीं होते।

पक्खीण सावयाण य विच्छोयं ण करेइ जो पुरिसो।
जीवेसु य कुणइ दयं तस्स अवच्चाइं जीवंति॥

— सुमत्तिसामि चरियं गा. ८१

— पक्षियों के बच्चों का जो व्यक्ति वियोग नहीं करता है और जीवों पर दया करता है उसकी सन्तति चिरंजीवी होती है।

नेहं विणा विवाहो आजम्म कुणइ परिदाहं अर्थात् स्नेह के बिना विवाह जीवनभर दुखदायी होता है— नम्मयासुन्दरीकहा। गां. ३९१,

पत्ते विणासकालो नासइ बुद्धिं नराण निक्खुत्तं अर्थात् विनाशकाले विपरीत बुद्धि — पउमचरियं ५३/१३८।

घ) अपभ्रंश पउमचरिउ से

तिह भुज्जु जिह ण मुच्चहि धणेण । पउमचरिउ १.७.१२.२

— इस प्रकार भोग करो कि धन समाप्त न हो।

तिह तजु पुणु वि ण होइ संगु । पउमचरिउ १.७.१२.३

— इस प्रकार त्याग करो कि फिर से संग्रह न हो।

सिद्धि णाणेण बिणु ण दिट्ठि । पउमचरिउ ४.६८.१०.९

— ज्ञान के बिना सिद्धि नहीं दिख पड़ती।

णिय-जम्मभूमि जणणिएँ सहिय सग्गे वि होइ अइ-दुल्लहिय।

— अपनी जन्मभूमि और अपनी जननी-माता, स्वर्ग से भी अधिक प्यारी होती है। — पउमचरिउ ५.७८.१७.४

तिह जीवहि जिह परिभमइ कित्ति ।

— इस प्रकार जीओ जिससे कीर्ति फैले।

विणु जीवदयाइ ण अत्थि धम्मु । महापुराण ८४.१.९

— जीव-दया के बिना धर्म नहीं होता।

उज्जम विणु होइ ण का वि सिद्धि । धण्णकु० च० २.१३.१०

– उछम के बिना कोई भी सिद्धि नहीं होती।

मह मयवंतु अकज्जे ण जंपइ । वड्डमाण चरिउ ४.१०.४

बुद्धिमान व्यक्ति बिना प्रयोजन के नहीं बोलते।

विहवहो फलु दुत्थिय आसासणु । सुदंसणचरिउ १.१०.३

– वैभव का फल दीन-दुखियों को आश्वासन यथायोग्य (सहायता) देना है।

सरणे पइट्ट जीव रक्खिज्जइ । सुदंसणचरिउ ६.१८.११

– शरण में आये हुए जीव की रक्षा करनी चाहिये।

प्राकृत भाषा के विकास हेतु केन्द्र सरकार के समक्ष प्रस्तुत छह सुझाव

संस्कृत/प्राकृत/पालि भाषा के विकास हेतु दिनांक २२ जनवरी सन् २०१३ को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा गठित “राष्ट्रीय संस्कृत परिषद्” की बैठक केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री माननीय श्री एम. एम. पल्लम्प राजु जी की अध्यक्षता में शास्त्री भवन में आयोजित हुई। जिसमें देश के ख्याति-लब्ध भाषाविद्, देश के सभी संस्कृत विश्वविद्यालयों के माननीय कुलपति एवं सभी संस्कृत अकादमियों के सचिव, उच्च शिक्षा सचिव तथा संबंधित अनेक विशिष्ट अधिकारी एवं सदस्य सम्मिलित हुए।

इस परिषद् में प्राकृत भाषा की ओर से नामित सदस्य प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी निदेशक, बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली एवं पालि भाषा की ओर से प्रो. भागचन्द जैन भास्कर, नागपुर सम्मिलित हुए।

सर्वप्रथम इस परिषद् के सदस्य सचिव एवं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के मा. कुलपति प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी ने इस परिषद् की पूर्व आयोजित बैठक तथा अन्य प्रगति रिपोर्ट के साथ ही राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान एवं उसके दस परिसरों, आदर्श योजनाओं आदि की प्रगति आख्या का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। कुछ माननीय सदस्यों ने संस्कृत भाषा के विकास एवं उसके व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु अपने सुझाव एवं नई योजनायें केन्द्र सरकार के समक्ष प्रस्तुत की।

प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास हेतु प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी द्वारा प्रस्तुत किये गये सुझावों को मा. मंत्री महोदय एवं सम्पूर्ण परिषद् ने गम्भीरता से सुना, विचार किया और इन्हें परिषद् की कार्यवाही में सम्मिलित कर लिया गया है।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास हेतु अनेक सुझाव और उपाय बतलाये जा सकते हैं, किन्तु इसकी पहल हेतु आरम्भिक रूप में छह सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं -

१. सरकार द्वारा मान्य भाषाओं की आठवीं अनुसूची में प्राकृत भाषा को सम्मिलित किया जाये - प्राकृत भाषा प्राचीन काल में जनभाषा के रूप में एक समृद्ध राजभाषा रही है। वर्तमान में इसका विशाल साहित्य उपलब्ध है। किन्तु सरकार की ओर से इसके व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु अभी तक अत्यल्प ही प्रयास हुए हैं। अतः भारत सरकार द्वारा भाषाओं की मान्य आठवीं अनुसूची में प्राकृत भाषा को भी सम्मिलित किया जाये, ताकि इसकी चरणबद्ध रूप में निरन्तर प्रगति होती रहे।

२. आदर्श प्राकृत महाविद्यालय एवं शोध-संस्थान की स्थापना - राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान से सम्बद्ध अनेक आदर्श संस्कृत महाविद्यालय एवं कुछ आदर्श संस्कृत शोध-संस्थान सम्पूर्ण देश में संचालित हो रहे हैं। अतः आरम्भिक चरण में कम से कम एक प्राकृत महाविद्यालय एवं एक प्राकृत शोध संस्थान को आदर्श योजना के अन्तर्गत गृहीत करके राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के अन्तर्गत स्थापित किया जाए। जयपुर, वाराणसी, मुम्बई, लखनऊ एवं भोपाल - इन शहरों में से किसी एक में इनकी स्थापना से प्राकृत भाषा के अध्ययन के इच्छुक विद्यार्थी एवं शोध छात्र सहज रूप में बहुतायत उपलब्ध हो सकते हैं।

३. केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में प्राकृत विभाग की स्थापना - केन्द्र सरकार द्वारा स्थापित देश के किसी भी केन्द्रीय विश्व-विद्यालयों एवं अन्य उच्च शिक्षा संस्थानों में प्राकृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन हेतु स्वतन्त्र विभाग नहीं हैं। अतः आरम्भ में इनमें से कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग की स्थापना की जाये।

४. देश के सभी माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रमों में प्राकृत पाठ्यक्रम का निर्धारण - सी. बी. एस. ई. तथा देश के अन्य सभी माध्यमिक (१०+२) स्तर की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित भाषाओं के स्थान

पर वैकल्पिक रूप में प्राकृत भाषा के पाठ्यक्रम के अध्ययन का प्रावधान किया जाये। इससे अब तक प्राकृत में उच्च शिक्षा प्राप्त शताधिक युवा विद्वानों को रोजगार के अवसर भी प्राप्त हो सकेंगे, साथ ही माध्यमिक कक्षाओं से ही प्राकृत भाषा के अध्ययन के प्रति छात्रों में आकर्षण बढ़ेगा और इससे प्राकृत भाषा के व्यापक प्रचार-प्रसार एवं अध्ययन को भी अधिक बढ़ावा मिलेगा।

५. राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के परिसरों में प्राकृत विभाग की स्थापना — राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के दस परिसरों में से किसी भी परिसर में स्वतंत्र विभाग के रूप में प्राकृत विभाग नहीं है। इससे प्राकृत भाषा और साहित्य के अध्ययन के इच्छुक छात्र वंचित रह जाते हैं। अतः प्रारम्भिक चरण में किसी एक उपयुक्त परिसर में स्वतंत्र प्राकृत विभाग की स्थापना की जाये।

६. प्राकृत एवं पालि दोनों भाषाओं के विद्वानों को प्रत्येक वर्ष राष्ट्रपति पुरस्कार का प्रावधान — अभी तक प्राकृत एवं पालि भाषा के विद्वानों में से बारी-बारी से प्रतिवर्ष किसी एक भाषा के विद्वान् को क्रमशः राष्ट्रपति पुरस्कार प्रदान किया जाता है। अतः प्राकृत एवं पालि दोनों के अलग-अलग विद्वानों को प्रतिवर्ष राष्ट्रपति पुरस्कार प्रदान किया जाये। साथ ही पुरस्कार की सम्मानित राशि भी संस्कृत भाषा के पुरस्कार की तरह प्रदान की जाये।

विशेष — यदि केन्द्र और राज्य सरकारें आरम्भिक रूप में चरणबद्ध पद्धति से उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करती हैं तो निश्चित ही प्राकृत भाषा और साहित्य का विकास सुगमता से संभव है। राज्य सरकारों को भी संस्कृत और हिन्दी आदि अकादमी की तरह प्राकृत भाषा की अकादमी स्थापित करने हेतु पहल करनी चाहिये।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अपभ्रंश अभ्यास सौरभ, डॉ. कमलचंद सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर, सन् २०१२;
२. अपभ्रंश भारती (अंक ७) में प्रकाशित, डॉ. सकलदेव शर्मा का लेख "अपभ्रंश साहित्य का पुनरावलोकन, प्रका० अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर;
३. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ. राजमणि शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००९;
४. अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली १९९६;
५. अपभ्रंश : भाषा और व्याकरण — डॉ. शिव सहाय पाठक, प्रकाशक — म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७६;
६. अभिनव प्राकृत व्याकरण, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन;
७. अष्टाध्यायी : पाणिनी, प्रका. खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, सम्वत् १९५४;
८. आयारो, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान;
९. गाथासप्तशती : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली;
१०. जैनधर्म : एक झलक, डॉ. अनेकान्त जैन, मेरठ, २००६;
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १-६), पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी;
१२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १-४) : जिनेन्द्रवर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली;

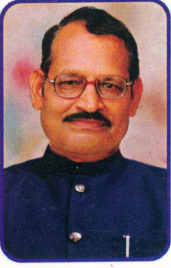
१३. नाट्यशास्त्र : भरत मुनि, सं. डॉ. पार्श्वनाथ द्विवेदी, प्रका. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२;
१४. पाइअसद्द महण्णवो, प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी, १९७२;
१५. प्रवचन परीक्षा, सम्पा० प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी;
१६. प्राकृत-अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषा में, डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशन भारत जैन महामण्डल, बम्बई, १९७५;
१७. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचंद शास्त्री, प्रकाशन तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, १९८८;
१८. प्राकृत-भाषा एवं साहित्य, सम्पा. डॉ. प्रेम सुमन जैन, प्राकृत ज्ञान भारती, एजुकेशन ट्रस्ट, बैंगलोर १९९३;
१९. प्राकृत भाषाओं का रूपदर्शन, आचार्य नरेन्द्रनाथ, रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ १९७३;
२०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, डॉ. आर. पिशल, विद्वत् राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८;
२१. प्राकृत व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्र कृत, संपा. डॉ. के. वा. आप्टे, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, १९९६;
२२. प्राकृत व्याकरण, जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर;
२३. प्राकृत व्याकरण प्रवेशिका, डॉ. सत्यरंजन बनर्जी, जैन भवन कलकत्ता, १९९९;
२४. प्राकृत-शब्द प्रदीपिका, नृसिंह शास्त्री, संस्कृत परिषद्, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद १९९२;
२५. प्राकृत-साहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चंद जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९८५;
२६. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी २००७;

२७. भारत की भाषायें : डॉ. राजमल बोरा, वाणी प्रका., नई दिल्ली;
२८. मध्यकालीन सङ्कनाटक : संपा. डॉ. राजाराम जैन, प्रका. प्राच्य श्रमण भारती, आरा, १९९२;
२९. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, प्रकाशक - पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-१९८७;
३०. मूलाचार : भाषा वचनिका, सं. फूलचन्द प्रेमी एवं डॉ. मुन्नी जैन, प्रका. अनेकान्त विद्वत् परिषद्, १९९६;
३१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, डॉ. मोतीलाल, जयपुर;
३२. वज्जालगंग - जयवल्लभकृत, अनु. डॉ. विश्वनाथ पाठक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९८४;
३३. शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं साहित्य का इतिहास, डॉ. इन्दु जैन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०११;
३४. शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख आचार्य, प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, सं. सं. वि. वि., वाराणसी, (संकाय पत्रिका भाग-३);
३५. संस्कृत रूपक और प्राकृत, डॉ. महेश्वर प्रसाद सिंह, प्रकाशक - आदित्य बुक सेन्टर, कमलानगर, दिल्ली, १९९७;
३६. समणसुत्तं, प्रका. सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी, १९८९;
३७. हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषि पं. सदासुखदास का योगदान, डॉ. मुन्नी जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००२;
३८. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली;

- *** -

LIST OF OUR SOME PUBLICATIONS

1. A catalogue of Manuscripts in the Jaisalmer Jain Bhandaras (In Hindi) by MUNI SHRI JAMBUVIJAYJI
2. Apabhramsha Language and Literature by DR. H.C. BHAYANI
3. Arhat Parsva and Dharanendra Nexus by PROF. M.A. DHAKY
4. Jain Philosophy and Religion by DR. NAGIN J. SHAH
6. Jain Theory of Multiple Facets of Reality and Truth (Anekantavada) by DR. NAGIN J. SHAH
7. Jaina Bhasa Darsan (in Hindi) by DR. SAGARMAL JAIN
- 8-9. Jaina Uddharan Kosh-Vol. I & II, by DR. KAMALESH K. JAIN
10. Mahabharat based plays and epics (till 1300 A.D.) (in Gujarati) by DR. S.M. PANDYA
11. Pancagranthi Vyakarana of Buddhisagarsuri (A Critical Edition) by DR. N. M. KANSARA
12. Pancasutrakam of Cirantanacarya by MUNI SHRI JAMBUVIJAYA
13. Patan-Jain-Dhatu-Pratima-Lekha-Sangraha (In Hindi) by Pt. LAXMAN BHAIH. BHOJAK
14. Patanjala Yoga Evam Jaina Yoga Ka Tulanatmaka Adhyayana (In Hindi) by DR. A. ANAND
- 15-16. Prakrit Verses in Sanskrit Works on Poetics, Vol. I & II, by Dr. V.M. KULKARNI
17. Shantinathacaritam (Prakrit) of Devacandra Suri (In Hindi) by MUNI SHRI DHARMADHURANDHARSURI
18. Some Aspects of the Rasa Theory by DR. V.M. KULKARNI
19. Studies in Sanskrit Sahitya Sastra by DR. V.M. KULKARNI
20. Tattvachintamani of Gangesh Upadhyaya with Sukhabodhika by DR. NAGIN J. SHAH
21. The Gahakosa of Hala, part-II by DR. V. M. PATWARDHAN
22. Samavayangasuttam, English Tr. & Ed. by ASHOK K. SINGH
23. Prakrit Bhasha Vimarsh, by PROF. PHOOL CHAND JAIN PREMI



प्रो० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' वाराणसी

माता एवं पिता— स्व. श्रीमती उद्यैती देवी एवं सिंघई नेमिचन्द्र जैन

जन्मतिथि एवं स्थान— 12.07.1948, पो. आ. दलपतपुर, सागर (म.प्र.)

शिक्षा— एम. ए. (संस्कृत), पी-एच.डी., साहित्याचार्य, शास्त्राचार्य

(जैनदर्शन), प्राकृताचार्य, सिद्धान्तशास्त्री

विशेषज्ञता का क्षेत्र— प्राकृत-पालि-संस्कृत, अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य,

जैनधर्म-दर्शन, प्राच्य भारतीय एवं श्रमण संस्कृति, इतिहास

सम्प्रति कार्यक्षेत्र — निदेशक, बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली,

1. पूर्व प्रोफेसर एवं जैनदर्शन विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,

2. पूर्व-अध्यक्ष, अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद्,

3. अधिष्ठाता — श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी ।

सम्पादक— 'जैनसंदेश' भा. दि. जैन संघ, मथुरा से प्रकाशित पाक्षिक-पत्र ।

प्रकाशित निबन्ध— जैनधर्म-दर्शन, समाज-संस्कृति एवं प्राकृत संस्कृत-भाषा एवं साहित्य

विषयक शताधिक शोध एवं सामयिक आलेख प्रकाशित ।

प्रकाशित मौलिक ग्रन्थ— 1. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन (तीन पुरस्कारों से पुरस्कृत

शोधप्रबन्ध) 2. लाडनू के जैन मंदिर का कला-वैभव 3. वैदिक व्रात्य और श्रमण संस्कृति

4. जैनधर्म में श्रमणसंघ 5. जैन साधना पद्धति में तप 6. उत्तर प्रदेश का जैन साहित्य को

अवदान ।

सम्पादित ग्रन्थ : 1. मूलाचार : भाषा-वचनिका (पुरस्कृत बृहद् ग्रन्थ) 2. प्रवचन-परीक्षा 3.

श्रमण आवश्यक निर्युक्ति 4-5. तीर्थकर पार्श्वनाथ (इस विषयक दो ग्रन्थ) 6. आदिपुराण

परिशीलन, 7. आत्मप्रबोध, 8. आत्मानुशासन, 9. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (द्वादश

खण्ड), 10. बीसवीं सदी के जैन मनीषियों का अवदान, 11. मथुरा का जैन सांस्कृतिक पुरा-

वैभव, 12. जैन विद्या के विविध आयाम, 13. स्याद्वाद महाविद्यालय शताब्दी स्मारिका, 14.

ऋषभ सौरभ, 15. अभिनन्दन ग्रन्थ (अनेक) ।

पुरस्कार— 1. श्री चांदमल पाण्ड्या पुरस्कार (1981), 2. महावीर पुरस्कार (1988), 3.

चम्पालाल स्मृति साहित्य पुरस्कार, 4. प्राकृत साहित्य का विशिष्ट पुरस्कार (उ. प्र. संस्कृत

संस्थान, लखनऊ), 5. श्रुतसंवर्धन पुरस्कार (1988), 6. गोमटेश्वर विद्यापीठ (2000), 7.

आचार्य ज्ञानसागर पुरस्कार (2005), 8. अहिंसा इण्टरनेशनल एवार्ड (2009), 9. डॉ.

पन्नालाल साहित्याचार्य पुरस्कार (2009), 10. अ. भा. जैन विद्वत् सम्मेलन, श्रवणबेलगोला

का 'संयोजकीय' सम्मान (2006)

स्थायी पता— अनेकान्त विद्या भवन बी 23 / 45 पी-6 शारदानगर, खोजवां, वाराणसी,

मो. 09450179254, 09868883648, anekant76@yahoo.co.in